हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ

Criticism

हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियां

ہندی گدیہ کی پرورتیاں

1. Nalin Vilochan Sharma

2. Achariya nanddularay

हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ

criticism

लेखक

- नलिन विलोचन शर्मा
- प्रभाकर माचवे
- ठाकुरप्रसाद सिंह
- बच्चन सिंह
- विजय शंकर मल्ल
- आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

भूमिका

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

राजकमल

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली बम्बई नई दिल्ली

Raj Kamal Prakashan
Delhi, Bombay, New Delhi

प्रकाशक
राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड,
बम्बई

मूल्य दो रुपये

मुद्रक
गोपीनाथ सेठ,
नवीन प्रेस, दिल्ली

भूमिका

'हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ' में आधुनिक, विशेषतः बीसवीं शताब्दी के, हिन्दी-गद्य-साहित्य से सम्बन्धित लेखों का संकलन है। विद्वान् लेखकों ने इनमें कतिपय प्रधान कृतियों और प्रवृत्तियों का मूल्यांकन किया है। प्रस्तुत पुस्तक आधुनिक गद्य-साहित्य की गतिविधि से परिचय कराती है। सामयिक साहित्य की परम्परा का अध्ययन, चिन्तन और मनन का क्रम स्वाभाविक और वांछनीय ही नहीं, वरन् भविष्य के लिए मार्ग-निर्देश करने, रूढ़ियों-विश्वासों, शास्त्रीय मान्यताओं आदि का मूल्यांकन करने, युग की नवीन आवश्यकताओं और विशेषताओं को परखने की दृष्टि से भी अत्यन्त आवश्यक है। इस दृष्टि से साहित्य-निर्माता और अध्येता एक-दूसरे के समीप आ जाते हैं और किसी ठोस वस्तु के प्राप्त करने के प्रशस्त मार्ग का निर्माण होता है, एक नई शक्ति उद्भावित होती है, पर्युषित के स्थान पर अपर्युषित का जन्म होता है। इस प्रकार के मूल्यांकन से साहित्य की आन्तरिक और बाह्य दोनों दृष्टियों का संयुक्त परिणाम दृष्टिगोचर होगा। प्रस्तुत संकलन इतिहास-ग्रन्थ न होते हुए भी इतिहास-लेखन के उपादान जुटाता है। लेखों में अध्ययन और इतिहास का विनिमय हो गया है और विच्छिन्न को एकत्रित करके देखने का प्रयास किया गया है, जो सर्वथा श्लाघ्य है।

एक बार प्लेटो ने कहा था : 'I am no writer of history. किन्तु डायोजेनीस (Diogenes) ने उत्तर दिया था : 'Every great writer is a writer of history, let him treat on almost what subject he may. He carries with him for thousands of years a portion of his times.' इसी 'portion of his times' को ढूँढने का प्रयास प्राचीन अथवा अर्वाचीन साहित्य के अध्ययन में डूबा रहता है। साहित्य के पृष्ठों में अपने को ढूँढने के लिए आज का मानव जितना सचेष्ट है उतना वह पहले कभी नहीं था। मनुष्य के सुख-दुःख की परिधि में बद्ध साहित्यिक क्रम के शाश्वत होते हुए भी साधारणतः उसकी गति हमारी सामान्य दृष्टि से ओझल रहती है। साहित्य का निर्माता कोई महापुरुष हमारे बीच भले ही विद्यमान हो, किन्तु छोटे-से वर्तमान काल के भीतर वह और प्रतिक्षण बनने वाला साहित्य हमें एक साथ ही दृष्टिगोचर नहीं होता। तब भी हमारा दृष्टिकोण अविच्छिन्न रूप से साहित्य की गति-विधि के साथ सम्बद्ध रहता है। अतीत और भविष्य के साथ सम्बन्ध स्थापित करके ही साहित्य अपने अस्तित्व के सत्य की घोषणा करता है। विश्व-मानव अत्यन्त उत्सुकता पूर्वक साहित्य के झरोखे से ही अतीत की गुफ़ा में से प्रवाहित अपनी जीवन-धारा को देखता और अपने गम्भीरतम

उद्देश्यों को विविध प्रकार की साधनाओं, भूलों और संशोधनों द्वारा प्राप्त करता हुआ अपने भावी जीवन को सिंचित होते हुए देखने की उत्कट अभिलाषा रखता है। अतीत की प्रेरणा और भविष्य की चेतना नहीं तो साहित्य नहीं। अतीत, वर्तमान और भविष्य की कड़ियों की अनन्त शृङ्खला के रूप में भावों की सृष्टि होती चली जाती है और मनुष्य अपनी प्रगति के नियमों और सिद्धान्तों को, अपनी वास्तविक सत्ता के विकास को 'मंगल के कंकण पहने दोनों हाथों से आवृत' किये रहता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है कि विश्व-मानव का विराट् जीवन साहित्य द्वारा आत्म-प्रकाश करता आया है। ऐसे साहित्य की गति-विधि आँकने का तात्पर्य कवियों और लेखकों की जीवनियों, भाषा तथा पाठ-सम्बन्धी अध्ययनों तथा साहित्यिक रूपों आदि का अध्ययन करना-मात्र ही नहीं है, वरन् उसका सम्बन्ध संस्कृति के इतिहास से है, मनुष्य के मन से, सभ्यता के इतिहास में साहित्य द्वारा सुरक्षित मन से, है। हम मथुरा के मन्दिरों की तुलना मदुरा के मन्दिरों से भले ही करें, किन्तु ये भव्य मन्दिर संचित मानवी अनुभव की अबाध धारा के भी प्रतीक हैं, यह हमें भूल न जाना चाहिए। साहित्य भी केवल अध्यापकों द्वारा पढ़ाई जाने वाली चीज़ नहीं है, वरन् वह मनुष्य के शाश्वत जीवन में आनन्द और अमृत का चिह्न है। हम अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थों, पत्र-पत्रिकाओं, जीवनियों, युग की प्रवृत्तियों आदि का अध्ययन करके मनुष्य की रचनात्मक शक्ति की ही व्याख्या करते हैं और व्यक्ति को व्यापकत्व प्रदान करते हैं। साहित्य जीवन का अनुकरण करता है, किन्तु उस दृष्टि से नहीं जिस दृष्टि से अर्थशास्त्र या इतिहास जीवन का अनुकरण करता है। उसमें कलाकार की प्रतिभा द्वारा एक युग की आत्मा, 'the universal mind of man,' अभिव्यक्त होता है। इसलिए एक विशेष युग के साहित्य की गति-विधि का अध्ययन करना मनुष्य के मन की लम्बी यात्रा की एक मंज़िल का अध्ययन करना है और मानव-सभ्यता के इतिहास में इस प्रकार के अध्ययन अत्यन्त मूल्यवान् हैं।

हिन्दी तथा अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं में गद्य-साहित्य का आविर्भाव भारतीय जीवन में उस मंज़िल का द्योतक है जब वह मध्ययुगीन वातावरण से बाहर निकल-कर वैज्ञानिकता का प्रतीक बना। हमारा समूचा गद्य-साहित्य जीवन के परिष्करण और उत्थान का साहित्य है। आज उसके माध्यम द्वारा हम अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञान-विज्ञान के सम्पर्क में आए हैं। संसार के लगभग सभी प्राचीन साहित्यों में काल्पनिक या काव्य-साहित्य को प्रधानता मिली है। साहित्य के इतिहास का अध्ययन करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि मौखिक रूप में किसी सुन्दर प्राकृतिक दृश्य या मानसिक भावावेग का वर्णन करने वाला पहला व्यक्ति कवि रहा होगा। वैसे भी मनुष्य के जीवन में बुद्धि-तत्त्व से पहले हृदय-तत्त्व का स्थान है। काल्पनिक या काव्य-साहित्य के अतिरिक्त ज्ञानवर्द्धक साहित्य को साहित्य की शास्त्रीय परिभाषा के अन्तर्गत परिगणित न किया जाता। विश्व-साहित्य के इस विकास-क्रम में भारतीय साहित्य अपवाद-स्वरूप नहीं रहा। संस्कृत में काव्य ही लोकोत्तर आनन्द प्रदान करने वाला माना गया है। ईसा की नवीं-दसवीं शताब्दी में अपभ्रंश-परम्परा टूट जाने के बाद लगभग सभी भारतीय भाषाओं के साहित्यों ने संस्कृत के आदर्शों का पालन किया। अरबी-फ़ारसी साहित्यों के साथ सम्पर्क स्थापित हो जाने

पर भी गद्य-रचना को कोई प्रोत्साहन न मिल सका। अतएव हिन्दी-गद्य के लिए ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी ही महत्त्वपूर्ण है, यद्यपि उससे पहले भी गद्य मिलता है, किन्तु कम और स्फुट रूप में। उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व वह साहित्य का प्रधान अंग न बन पाया था। ऐतिहासिक घटना-चक्र के अनुसार उन्नीसवीं शताब्दी के भारतवर्ष में एक नवीन युग की अवतारणा हुई। उस समय भारतवासियों का पश्चिम की एक सजीव और उन्नतिशील जाति के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ। यह जाति अपने साथ यूरोपीय औद्योगिक क्रान्ति के बाद की सभ्यता लेकर आई थी। उसके द्वारा प्रचलित नवीन शिक्षा-पद्धति, वैज्ञानिक आविष्कारों और प्रवृत्तियों से हिन्दी-साहित्य अछूता न रह सका। शासन-सम्बन्धी आवश्यकताओं तथा जीवन की नवीन परिस्थितियों के कारण गद्य-जैसे नवीन साहित्यिक माध्यम की आवश्यकता हुई और वास्तव में गद्य के द्वारा ही हिन्दी में आधुनिकता का बीजारोपण हुआ (उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में) न कि काव्य द्वारा। वास्तव में एक नवीन युग में एक नवीन शिक्षा-पद्धति में पालित-पोषित शिक्षित समुदाय के आविर्भाव के कारण हिन्दी में गद्य-परम्परा के क्रमबद्ध इतिहास का सूत्रपात पहले-पहल उन्नीसवीं शताब्दी में ही हुआ, यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व हिन्दी में गद्य का पूर्ण अभाव नहीं था। पश्चिम में गद्य के विकास के लिए एक से अधिक परिस्थितियों के उत्पन्न हो जाने के कारण गद्य का विकास अधिक तीव्र गति से हो गया था। हिन्दी-साहित्य के खोज-विद्यार्थियों द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व के हिन्दी-गद्य के स्फुट उदाहरण उपलब्ध हो चुके हैं, यद्यपि अभी बहुत-कुछ कार्य शेष है। जो सामग्री अभी तक उपलब्ध हुई है वह दान-पत्रों, पट्टों-परवानों, सनदों, वार्ताओं, टीकाओं आदि के रूप में है। और क्योंकि उस समय हिन्दी-प्रदेश की राजनीतिक, साहित्यिक और धार्मिक चेतना के प्रधान केन्द्र ब्रज और राजस्थान में थे, इसलिए उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व के गद्य के स्फुट उदाहरण भी ब्रजभाषा और राजस्थानी में मिलते हैं। मुसलमानी शासन-काल में खड़ी बोली का प्रचार समस्त उत्तर-भारत में हो गया था और उसने मुस्लिम राज-दरबारों में अपना स्थान बना लिया था। उसका प्रभाव हिन्दी-कवियों पर पड़े बिना न रह सका। किन्तु परम्परा के अनुसार ब्रजभाषा और राजस्थानी काव्य-भाषाएँ बनी रहीं और जब किसी ने भूले-भटके गद्य-रचना प्रस्तुत की तो इन्हीं दो भाषाओं का प्रयोग किया। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में ज्यों-ज्यों परिस्थिति बदलती गई, सर जॉर्ज ग्रियर्सन के शब्दों में, ज्यों-ज्यों 'कलकत्ता सिविलाइज़ेशन' का प्रचार एवं प्रसार होता गया, त्यों-त्यों साहित्य तथा व्यावहारिक कार्य-क्षेत्र में खड़ी-बोली प्रधानता ग्रहण करती गई। सच बात तो यह है कि खड़ी बोली को उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ या उससे कुछ पहले से नवीन शासकों और प्रेस-जैसे वैज्ञानिक आविष्कार का आश्रय प्राप्त हुआ और कलकत्ता उसका विकास-केन्द्र बना। इस प्रकार उसमें एक नवीन युग की नवीन चेतना एवं प्रेरणा के फलस्वरूप गद्य का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हिन्दी-साहित्य परम्परा और रूढ़ि का अनुसरण कर रहा था। नवीनता यदि मिलती है तो वह केवल खड़ी बोली-गद्य के रूप में—नवीन इस अर्थ में कि इसी समय वह साहित्य का एक प्रमुख और स्थायी अंग बना। हमें इस

समय खड़ी बोली-गद्य की निश्चित और अटूट परम्परा मिलने लगती है जिससे उसके उज्ज्वल भविष्य का पता भी चलता है। खड़ी बोली ने अपने बाल्य-काल में ही संसार के जिन विविध विषयों का भार वहन किया उसे देखकर आश्चर्य हुए बिना नहीं रह सकता। प्राथमिक शिक्षा, गणित, बीजगणित, ज्यामिति, क्षेत्र-विज्ञान, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, समाज-शास्त्र, विज्ञान, चिकित्सा, राजनीति, आईन, कृषि-कर्म, ग्राम-शासन, ग्राम-जीवन, तार, कला-दस्तकारी, शिक्षा, यात्रा, नीति, धर्म, ज्योतिष, दर्शन, अँग्रेज़ी राज्य और शिक्षा, कथा-कहानी, छन्द-शास्त्र, व्याकरण, कोष, संग्रह-ग्रन्थ (गद्य-पद्य) आदि अनेक विषयों से सम्बन्धित छोटे-बड़े ग्रन्थों का निर्माण खड़ी बोली में हुआ। हिन्दी-प्रदेश के जीवन में आधुनिकता का बीजारोपण खड़ी बोली की इन्हीं गद्य-रचनाओं से माना जाना चाहिए। इसी आधुनिकता का विकास हमें भारतेन्दु-युग में मिलता है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन, फोर्ट विलियम कालेज, ईसाई पादरियों, सरकारी शिक्षा-आयोजनाओं तथा विभिन्न शिक्षण-संस्थाओं, समाचार-पत्र-कला और इन सबसे किसी-न-किसी रूप में सम्बन्धित अथवा प्रारम्भ में ही पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के माध्यम द्वारा खड़ी बोली-गद्य का विकास हुआ। वास्तव में यदि खड़ी बोली-गद्य के इतिहास को हिन्दी-प्रदेश के जीवन में बढ़ते हुए पाश्चात्य प्रभाव का इतिहास कहें तो अनुचित न होगा।

खड़ी-बोली-गद्य साहित्य के सम्बन्ध में यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में अधिकतर उपयोगी और व्यावहारिक विषयों से सम्बन्धित रचनाएँ ही निर्मित हुईं; इस समय खड़ी बोली में नाटक, उपन्यास, निबन्ध, आलोचना आदि के रूप में ललित साहित्य की रचना न हो सकी, क्योंकि जिन-जिन साधनों द्वारा खड़ी बोली गद्य का विकास हुआ लगभग उन सभी में नवीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यावहारिक दृष्टिकोण ही सन्निहित था। उसमें ललित साहित्य का सृजन तो उस समय हुआ जब वह साहित्यिकों द्वारा सँवारा जाने लगा। यह कार्य उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी में सम्पन्न हुआ। खड़ी बोली-गद्य की यह गाथा हिन्दी-प्रदेश के नवजीवन की प्रभातकालीन चेतना, स्फूर्ति, ग्राहिका-शक्ति और गतिशीलता की आशा भरी गाथा है। जिस दिन खड़ी बोली-गद्य का कोई भी प्रथम पृष्ठ प्रेस में मुद्रित हुआ होगा वह दिन निस्संदेह साहित्यिक क्रान्ति का दिन था।

भारतेन्दु-युग में जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों और अँग्रेज़ी साहित्य के अनुशीलन के फलस्वरूप जिन साहित्यिक रूपों का सृजन हुआ उनमें से केवल काव्य को छोड़कर पूर्वकालीन हिन्दी-साहित्य में अन्य रूपों का अभाव था। पश्चिमी सभ्यता के साथ सम्पर्क स्थापित होने से विविध सुधारवादी तथा अन्य आन्दोलनों और नई शक्तियों की वृद्धि से अभूतपूर्व आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक एवं सामाजिक परिवर्तन हुए, जिनके फलस्वरूप हिन्दी-साहित्य और भाषा की गति-विधि भी परम्परा छोड़कर नवदिशोन्मुख हुई। पूर्व और पश्चिम के सम्पर्क से नवचेतना उत्पन्न हुई, समाज अपनी खोई हुई शक्ति बटोरकर गतिशील हुआ, नवयुग के जन्म के साथ विचार-स्वातन्त्र्य का जन्म हुआ, साहित्य में गद्य की वृद्धि हुई और कवियों ने अपनी

परिपाटी-विहित और रूढ़ि-ग्रस्त कविता छोड़कर दुनिया नई आँखों से देखनी शुरू की। उपन्यास, नाटक, निबन्ध, समालोचना आदि ने नवीन चेतना का अनुसरण किया। उनमें हिन्दी-लेखकों ने नव भारत की राजनीतिक और आर्थिक महत्त्वाकांक्षाएँ प्रकट करके अपने चारों ओर के धर्म और समाज की पतित अवस्था पर क्षोभ प्रदर्शित करते हुए भविष्य के उन्नत और प्रशस्त जीवन की ओर इंगित किया। इस युग में जिस नई चेतना ने साहित्य में प्रवेश किया वह बीसवीं शताब्दी में विविध आन्दोलनों और लेखकों के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संघर्षों एवं उनके द्वारा उत्पन्न मानसिक विषमताओं और दो महायुद्धों के फलस्वरूप सम्भूत जीवन की जटिल परिस्थितियों के कारण और भी मुखरित हो उठी। आज जिन शक्तियों ने हमारे राष्ट्रीय जीवन को स्पन्दित कर रखा है उनके दुर्दमनीय प्रभाव से लेखक बच नहीं पाए। उनके प्रति विमुख और अन्यमनस्क रह सकना कठिन भी था; उनका लेखकों पर प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव पड़ना तो अनिवार्य था।

यदि हम अपने साहित्य के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो यह ज्ञात होते देर न लगेगी कि हिन्दी-प्रदेश की नवीन चेतनाओं, आकांक्षाओं और विषमताओं का भार काव्य को छोड़कर गद्य में प्रधानतः उपन्यास और नाटक को वहन करना पड़ा है। उन्नीसवीं शताब्दी के सुधारवादी आन्दोलनों से लेकर आधुनिक राष्ट्रीय संग्राम, विभिन्न मतवादों, आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक विषमताओं आदि की अभिव्यक्ति उपन्यासों और नाटकों में विशेष रूप से हुई है। बीसवीं शताब्दी के साहित्यिक रूप कहानी की सामाजिक उपयोगिता भी कम नहीं रही। नाटक का महत्त्व तो अपने देश में ही स्वीकार किया गया है। नाट्य-शास्त्र पंचम वेद के अन्तर्गत माना गया है और उसका अधिकार शूद्रों तक को दिया गया है। नाट्याभिनय द्वारा सुधारवादियों का कार्य अत्यन्त सरल हो जाता है। वास्तव में यदि देखा जाय तो उसका यही गुण हिन्दी में उसके जन्म का एक प्रधान कारण है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जब बंगाल में उसकी उपयोगिता देखी तभी उनके मन में नाटक-रचना की प्रेरणा उत्पन्न हुई थी। देश के जीवन का नव संस्कार करने के लिए इन्होंने नाटक को एक उपयुक्त साधन समझा और उनके बाद के नाटक-साहित्य का इतिहास उनके विचार की पुष्टि करता है। नाटक की भाँति ही उपन्यास का जन्म भी विविध सुधारवादी आन्दोलनों की क्रोड़ में हुआ था। उपन्यास पश्चिम से आई हुई नई सभ्यता और प्रिंटिंग प्रेस की देन है और वह मानव जीवन को समग्र रूप से देखने का सर्वप्रथम प्रयास है। ई० एम० फॉर्स्टर के कथनानुसार जीवन के गुप्त रहस्यों को अभिव्यक्त करने की विशेषता जितनी उपन्यास में है उतनी अन्य किसी कला में नहीं है। यही कारण है कि हमारे राष्ट्रीय जीवन के संघर्षपूर्ण पिछले लगभग अस्सी वर्षों में उपन्यास और नाटक दोनों का महत्त्वपूर्ण योग रहा है, यद्यपि नाटक की अपनी सीमाओं के कारण उपन्यास आज वह प्रधान साहित्यिक रूप बन गया है जिसके द्वारा मानव-जाति अपनी बाह्य एवं आंतरिक समस्याएँ सुलझाने में संलग्न है। यूरोप में साहित्य की केवल 'फ़िक्शन' और 'नॉन-फ़िक्शन' दो भागों में विभाजित करने की प्रवृत्ति भी इसी दिशा की ओर संकेत करती है।

आधुनिक साहित्य में उपन्यास का एक और दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है। काव्य,

नाटक, समालोचना आदि की परम्परा संस्कृत-साहित्य में विद्यमान थी। काव्य और समालोचना की परम्परा तो हिन्दी में अविच्छिन्न रही, किन्तु मध्ययुग में नाटक की परम्परा अवश्य लुप्त हो गई थी। उपन्यास-रचना का प्रारम्भ हिन्दी में नई चीज़ थी। उसका सम्बन्ध संस्कृत की प्राचीन औपन्यासिक परम्परा और पौराणिक कथाओं से जोड़ना विडम्बना-मात्र है। हिन्दी में औपन्यासिक परम्परा पश्चिमी और बँगला-साहित्यों के प्रभावान्तर्गत विकसित हुई। आगे चलकर यह परम्परा किस प्रकार पुष्ट हुई उसका विवरण पाठकों को प्रस्तुत पुस्तक के उपन्यास सम्बन्धी परिच्छेदों में मिलेगा, यद्यपि उनमें कही गई सब बातों से सहमत होना आवश्यक नहीं है। जिस समय अनेक पौराणिक कथाएँ और विचित्रता तथा चमत्कार से पूर्ण कहानियाँ जनता का मन बहला रही थीं उस समय भारतेन्दु-युग के लेखकों ने ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यासों की ओर ध्यान दिया। इन लेखकों ने अपने उपन्यासों में ऐतिहासिक घटनाओं का चित्रण करके शौर्य, प्रेम, चरित्र की उच्चता और कार्य-व्यापार की कुशलता का परिचय कराया है। साथ ही उन्होंने सामाजिक कुसंस्कारों के प्रति भी उदासीनता ग्रहण नहीं की। उन्होंने जीवन के विविध क्षेत्रों से सम्बन्धित शिक्षाप्रद और नैतिक उपन्यासों की रचना की। उस सुधारवादी युग की माँग भी ऐसी ही थी। गुण-दोषों का ठीक-ठीक विवेचन करना और कठोर नैतिक अनुशासन और जीवन को उन्नति के मार्ग पर ले चलना इन औपन्यासिक कृतियों का अन्तिम ध्येय था। शिक्षाप्रद उपन्यासों के साथ-साथ तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों ने फ़ारसी और संस्कृत की लोक-प्रचलित कथाओं से प्रेरणा ग्रहण करके नवजात व्यवसायी मध्यवर्ग का मनोरंजन किया। बीसवीं शताब्दी में प्रेमचन्द के पदार्पण से उपन्यास-साहित्य कला, विषय और उपादान तीनों दृष्टियों से विकसित हुआ। उसमें अब मानव-मन और मानव-जीवन को प्रमुख स्थान मिलने लगा। प्रथम महायुद्ध के बाद कांग्रेस के नेतृत्व में राजनीतिक चेतना उत्पन्न हुई जिसके साथ-साथ सामाजिक और आर्थिक आन्दोलनों का भी जन्म हुआ। उपन्यास-लेखकों ने ज़मींदारों के अत्याचार, दरिद्र किसान, अँग्रेज़ शासकों की नीति, नागरिक जीवन, नारी-समस्या, समाज में खान-पान का व्यवहार, विवाह-प्रथा, शिक्षा आदि अनेक विषयों के आधार पर उपन्यासों का निर्माण किया। इस सम्प्रदाय के लेखकों में प्रेमचन्द द्वारा दिखाए गए मार्ग का ही किसी-न-किसी रूप में अनुसरण किया गया है। प्रसाद का 'कंकाल' अपना विशेष स्थान रखता है, किन्तु हिन्दी में उसकी परम्परा का कलात्मक विकास नहीं हो पाया। उग्र, चतुरसेन शास्त्री, ऋषभचरण जैन आदि लेखकों का स्थूल दृष्टिकोण इस कोटि के उपन्यासों के कलात्मक विकास के लिए सहायक सिद्ध न हो सका। व्यक्ति के मन की गुत्थियाँ सुलझाने में जैनेन्द्र जी ने अवश्य अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व का परिचय दिया है। उनकी शैली और भाषा में जो मौलिकता है वह इस कोटि के अन्य उपन्यासकारों में दृष्टिगोचर नहीं होती। प्रेमचन्द और जैनेन्द्र की परम्परा के बाद आधुनिकतम हिन्दी उपन्यास-साहित्य में नये-नये मार्गों का सृजन हुआ है। ग्रामीण जीवन का चित्रण तो उसमें है ही, किन्तु अब उसमें शहरी मध्यवर्ग और मज़दूर के जीवन की आर्थिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं की प्रमुखता हो चली है और इस दृष्टि से उपन्यास-

क्षेत्र में अनेक प्रयोग हो रहे हैं। पाश्चात्य विचारकों और लेखकों का प्रभाव इस नवीन उपन्यास-साहित्य पर स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, यशपाल आदि इस धारा के प्रमुख लेखक हैं। इन लेखकों में बौद्धिक तथ्यों और निर्णयों के आधार पर जीवन की यथार्थता देने की प्रवृत्ति पाई जाती है। वे एक विशेष दृष्टि से मध्यवर्गीय समाज का चित्रण करते हैं। हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यासों की धारा वृन्दावनलाल वर्मा, राहुल सांकृत्यायन और हज़ारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा पुष्ट हुई है, किन्तु यह अभी क्षीण रूप में ही है। आज हिन्दी के अनेक तरुण कलाकार आधुनिक युग की अनेक जटिल राजनीतिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक यथार्थताएँ लेकर अपनी कृतियों का निर्माण कर रहे हैं और शैली तथा व्यक्तित्व की दृष्टि से नवीनता प्रकट कर रहे हैं। यद्यपि उपन्यास-क्षेत्र में प्रेमचन्द-जैसा व्यक्ति अभी फिर उत्पन्न नहीं हुआ, तब भी आज का हिन्दी उपन्यास-साहित्य पिछड़ा हुआ नहीं कहा जा सकता, बल्कि कहना यह चाहिए कि सम्प्रति साहित्य का एक यही अंग विशेष रूप से उन्नत है और वह जीवन की अनेक जटिल समस्याओं को सुलझाने में सहायक सिद्ध हो रहा है।

हिन्दी-कहानी पूर्ण रूप से बीसवीं शताब्दी की देन है। कहानियों का प्रारम्भ १९०० ई० में 'सरस्वती' मासिक पत्रिका से होता है। प्रारम्भ में अंग्रेज़ी और संस्कृत-कथाओं के रूपान्तर प्रकाशित हुए। धीरे-धीरे सामयिक जीवन में घटित होने वाली साधारण घटनाओं के आधार पर कहानियों का निर्माण हुआ तथा यथार्थवादी और कल्पना-प्रसूत कहानियों की दो धाराएँ प्रवाहित हुईं, जिनके प्रवर्त्तक क्रमशः प्रेमचन्द और प्रसाद थे और जिनमें ज्वालादत्त शर्मा, गुलेरी, सुदर्शन, कौशिक, हृदयेश आदि ने योग प्रदान किया। इन लेखकों में सामाजिक चेतना थी और उनकी कहानियों में आदर्शपूर्ण संवेदनशीलता का विशेष गुण और मनोविज्ञान का हलका पुट है। प्रेमचन्द, प्रसाद और जैनेन्द्र तथा पिछले खेवे के अन्य कहानी-लेखकों के बाद के लेखक रोमांसपूर्ण कहानियाँ लिखने में लग गए थे। किन्तु धीरे-धीरे हिन्दी के कहानी-लेखकों ने प्रेमचन्द की 'कफ़न' कहानी का मार्ग पकड़कर यथार्थवादी और मनोवैज्ञानिक कहानियों का सृजन किया है। उन्होंने निस्संकोच वर्तमान युग और जीवन के कथानक चुने हैं, मध्य वर्ग के जीर्ण जीवन का वर्णन किया है, व्यक्ति के मन का विश्लेषण किया है, स्त्री-पुरुष के प्रेम का चित्रण किया है और आधुनिक जीवन की मानसिक और भौतिक विषमताओं की पार्श्वभूमि पर अपनी कहानियों को आधारित किया है। आज के उपन्यास और कहानी-लेखक युग-सत्य को वाणी दे रहे हैं। आज की कहानी-कला प्रेमचन्द, प्रसाद और कौशिक की कला से अलग होकर नई दिशाओं में प्रवाहित हो रही है। अब वह प्रारम्भिक कला के बन्धन स्वीकार नहीं करती।

उन्नीसवीं शताब्दी हिन्दी-साहित्य के लिए क्रान्तिकारी युग के रूप में थी। उपन्यास-साहित्य की भाँति हिन्दी-नाटक-साहित्य का जन्म भी इसी शताब्दी में हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से पूर्व हिन्दी में नाटक-परम्परा का अभाव था। जो प्राचीन नाट्य-परम्परा मध्य युग में टूट गई थी वह उन्नीसवीं शताब्दी की नवोत्थानकालीन भावना से प्रेरित होकर और अंग्रेज़ी साहित्य से प्रेरणा ग्रहण करके पुनर्जीवित हो उठी। 'नाटक' नाम से अभिहित जिन मध्ययुगीन रचनाओं का उल्लेख प्रायः किया जाता है उनमें नाटक-रचना

के तत्वों का अभाव मिलता है। भारतवर्ष में मुसलमानी आक्रमणों के समय संस्कृत की नाट्य-परम्परा का तो ह्रास हो ही गया था, किन्तु मध्य युग में नाटकों के अभाव के मूल में धार्मिक कारण न मानना एक प्रधान कारण को भुला देना है। किसी ऐतिहासिक सत्य को स्वीकार न करना अपनी संकीर्णता का परिचय देना होगा। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में जब भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नाटक-रचना की ओर ध्यान दिया उस समय रासलीलाएँ, रामलीलाएँ और पारसी थिएटर जनता के मनोरंजन के साधन बने हुए थे। हिन्दी में उच्च कोटि के नाट्य साहित्य के निर्माण का कार्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा सम्पन्न हुआ। उन्होंने जीवन के विविध क्षेत्रों से सामग्री ग्रहण करके सामाजिक, धार्मिक, विशुद्ध साहित्यिक, पौराणिक और राष्ट्रीय एवं राजनीतिक नाटकों की परम्परा को जन्म दिया और भारतीय नवोत्थानकालीन भावनाओं का प्रचार किया। कहना न होगा कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद हिन्दी के दूसरे प्रसिद्ध नाटककार प्रसाद जी के समय तक तथा उनके बाद भी नाटक-क्षेत्र में इसी परम्परा का निर्वाह होता रहा। केवल देश की आवश्यकताओं के अनुसार बीसवीं शताब्दी में ऐतिहासिक नाटकों की रचना का प्राधान्य हो गया था। पौराणिक कथाओं का नये ढंग से प्रतिपादन किया जाने लगा। हिन्दी के कुछ लेखकों ने प्रतीकात्मक नाटकों की भी रचना की, किन्तु यह परम्परा अधिक पुष्ट नहीं हो सकी। इसी प्रकार गीति-नाट्यों की रचना होने पर भी हिन्दी में सुन्दर गीति-नाट्यों का एक प्रकार से अभाव ही है। वास्तव में हिन्दी-नाटक-साहित्य की परम्परा बीच-बीच में रोग-ग्रस्त होती रही है और उसका उपन्यास-साहित्य की भाँति अबाध रूप से स्वस्थ विकास नहीं मिलता। भारतेन्दु की मृत्यु के बाद नाटकों की जैसी दुर्दशा हो गई थी उसे देखकर साहित्य-रसिकों को बड़ा दुःख होता था। लगभग वही दशा आज प्रसाद की मृत्यु के बाद है। हिन्दी में श्रेष्ठ नाटककार का अभाव बहुत खटकता है। अन्य अनेक कारणों के अतिरिक्त भारतेन्दु-युग तथा बीसवीं शताब्दी के लगभग प्रथम पच्चीस वर्षों में पारसी थिएटरों का घातक प्रभाव पड़े बिना न रह सका और उसके बाद रंगमंच का एकदम अभाव उसकी प्रगति में बाधक बन गया है। हिन्दी में एक साधु अभिनयशाला के न होने से पाठ्य-साहित्य के विकास की गति एक विशेष दिशा की ओर ही मुड़ी रही है, अर्थात् ऐसे नाटकों का निर्माण होता रहा है जो साहित्यिक आनन्द की दृष्टि से तो सुन्दर रचनाएँ हैं, किन्तु रंगमंच की दृष्टि से दोषपूर्ण हैं। मेरा विचार तो यह है कि आधुनिक हिन्दी-नाट्य-साहित्य पर विचार करते समय केवल रंगमंच पर ही ध्यान नहीं रखना चाहिए। रंगमंच ही को नाटक की कसौटी मान लिया जाय तो संसार की अनेक प्रसिद्ध रचनाओं को नाटक की कोटि से निकाल देना पड़ेगा। शैली की दृष्टि से हिन्दी-नाट्य-साहित्य पूर्व और पश्चिम दोनों को लेकर चला था, किन्तु धीरे-धीरे वह पश्चिमाभिमुख अधिक हो गया है, और भारतीय तत्त्व नगण्य रूप में रह गए हैं। वर्तमान समय में हिन्दी-नाटकों की रचना 'प्रसाद' की परम्परा-पालन मात्र रह गई है।

बीसवीं शताब्दी में इधर पिछले बीस वर्षों में समस्या-नाटकों और एकांकी नाटकों का निर्माण भी हुआ है। यूरोपीय प्रभाव के अन्तर्गत समस्या-नाटकों में बुद्धिवाद के आधार पर सामाजिक, धार्मिक, व्यक्तिगत तथा जीवन के अन्य क्षेत्रों में व्यर्थ के आडम्बरों

और बाह्याचारों तथा परम्परा-पालन का विरोध किया जाता है। किन्तु हिन्दी के समस्या-नाटकों का बुद्धिवाद कुण्ठित और इनका क्षेत्र बहुत सीमित है; उनमें शॉ और इब्सन की पैनी दृष्टि का अभाव है। वैसे भी यह परम्परा हिन्दी में अधिक विकसित नहीं हो पाई।

वर्तमान समय में अनेकांकियों का अधिक प्रचार है। आधुनिक एकांकियों का संस्कृत-नाट्य शास्त्र में रूपक और उपरूपक के भेदों में गिनाये गए 'एकांकियों' से सम्बन्ध स्थापित करना घोर अवैज्ञानिकता है। यह स्वीकार करने में कोई संकोच न होना चाहिए कि आधुनिक एकांकी पश्चिम की देन है। एकांकी की कला एक श्रेष्ठ कला है और बड़ा नाटक लिखने की अपेक्षा यह अधिक कठिन है। उसमें पृष्ठभूमि, विषय-चयन, वातावरण, कथा-विस्तार, किसी एक मानवी भाव के चित्रण, सामाजिक आचार-विचार, समस्याएँ प्रस्तुत करने, रंगस्थल की व्यवस्था करने, उत्कर्ष-अपकर्ष, चरित्र-चित्रण, संवाद, कार्य-व्यापार, प्रभाव आदि की दृष्टि से लेखक को अत्यन्त सतर्क रहने की आवश्यकता है। यह मत भ्रमात्मक है कि एकांकी केवल एक छोटा नाटक है। नाटक और एकांकी में महान् अन्तर है। हिन्दी में यद्यपि अनेकानेक एकांकी लिखे जा रहे हैं, किन्तु, कुछ अपवादों को छोड़कर, एकांकी की वास्तविक कला की कसौटी पर खरे उतरने वाले एकांकियों की खोज करते समय सम्भवतः निराश ही होना पड़ेगा। पृष्ठभूमि, वातावरण और कार्य-व्यापार का अभाव लगभग सभी एकांकियों में मिलता है। वैसे उनके उद्देश्यों की परिधि बहुत विस्तृत है। वे सामाजिक, ऐतिहासिक, राष्ट्रीय, मनोवैज्ञानिक, हास्य-व्यंग्यपूर्ण आदि अनेक उद्देश्यों को लेकर लिखे गए हैं। आधुनिक जीवन की विडम्बनाओं पर गहरी चोट करना एकांकी-लेखकों का प्रमुख कर्तव्य होता जा रहा है। रेडियो के कारण नाटक का नवीनतम रूप ध्वनि-रूपकों में मिलता है जिसकी टेकनीक एकांकी की टेकनीक से भिन्न रहती है। रंगमंचीय कला की दृष्टि से एकांकियों को ध्वनि-रूपकों से आघात पहुँचने की पूरी सम्भावना है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार फ़िल्मों के प्रचार से हिन्दी की नाट्य-कला को क्षति पहुँची है।

हिन्दी में निबन्ध-रचना भी खड़ी बोली गद्य की विशेषता है और अभी उसका इतिहास एक शताब्दी पुराना भी नहीं है। 'निबन्ध' शब्द प्राचीन है, किन्तु निबन्ध-रचना हिन्दी की साहित्यिक चेतना का प्रतीक है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी में बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, चतुर्भुज औदीच्य, यशोदानन्दन अखौरी, रामचन्द्र शुक्ल आदि अनेक उत्कृष्ट निबन्ध-लेखक हुए हैं। लेकिन निबन्ध-रचना आधुनिक हिन्दी-गद्य-साहित्य की प्रमुख विशेषता नहीं बन पाई। सम्प्रति 'निबन्ध' शब्द के प्रयोग में भी बड़ी अव्यवस्था है। 'निबन्ध' (Essay) और 'लेख' (Article) प्रायः समानार्थवाची हो गए हैं। यही कारण है कि अनेक गद्य-लेखकों को 'निबन्धकार' पुकारा जाने लगा है। वस्तुतः अनेक गद्य-लेखक गद्य-शैलीकार तो हैं, किन्तु उन्हें 'निबन्धकार' नहीं कहा जा सकता। किसी गद्य-रचना को निबन्ध (Essay) की कोटि में आने के लिए विशेष तत्वों से समन्वित होने की आवश्यकता होती है। निबन्ध-रचना का समाचार-पत्रों से घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी समाचार-पत्र या मासिक पत्र में प्रकाशित प्रत्येक गद्य-रचना 'निबन्ध' नाम से अभिहित नहीं की जा सकती। निबन्ध के वास्तविक

स्वरूप को समझने के लिए उसके जन्मदाता मौंतेन (Montaigne) के कथन को ध्यान में रखना चाहिए। उसका कथन है: 'It is my self I portray'। अथवा साहित्य को शक्ति-सम्पन्न और ज्ञान-वर्द्धक दो भागों में विभाजित करते हुए निबन्ध को शक्ति-सम्पन्न साहित्य के अन्तर्गत रखा जाना चाहिए—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार काव्य को हम शक्ति सम्पन्न साहित्य के अन्तर्गत रखते हैं। निबन्ध में विषय का सांगोपांग निरूपण नहीं होता, जैसा लेख में होता है। निबन्ध के लिए विषय तो बहाना-मात्र होता है। उसमें 'The natural man must speak' अथवा "The 'I' must be expressed' अथवा 'One should let oneself go' अथवा 'To bring out the natural man, the real personality of the writer, on which the essay if it is to be worth anything, must feed' अथवा 'Essence of the essay is soliloquy' और 'The essayist must wear his heart upon his sleeve' अथवा 'The essay is the expression of a personality, an artful and enduring kind of talk' आदि विशेषताओं का रहना अनिवार्य है। सर ए० सी० बेन्सन का निबन्धकार के सम्बन्ध में कहना है: '...a certain discreet shamelessness must always be the characteristic of the essayist, for the essence of his art is to say what has pleased him without too prudently considering whether it is worthy of the attention of the well-informed mind.' अथवा उन्हीं के शब्दों में: 'The essayist, then, in his particular fashion, is an interpreter of life, a critic of life. He does not see life as the historian or as the philosopher or as the poet or as the novelist, and yet he has the touch of all these'. निबन्ध-लेखक मत का प्रतिपादन नहीं करता, सिद्धान्त स्थिर नहीं करता। वह मनोनीत विषय को अपने व्यक्तित्व के रस में पगाकर प्रकट करता है। वह विषय का अध्ययन करके नहीं लिखता। वह पाठक के साथ आत्मीयता स्थापित करता है। हिन्दी में बालमुकुन्द गुप्त एक आदर्श निबन्ध-लेखक हैं जिनकी रचनाओं में वास्तविक निबन्ध के सभी आवश्यक तत्त्व पाए जाते हैं। 'शिवशम्भु के चिट्ठे' और 'चिट्ठे और ख़त' में जो निबन्ध संग्रहीत हैं उनका सम्बन्ध अधिकतर लॉर्ड कर्ज़न की राजनीति से है। किन्तु लेखक ने राजनीति का अध्ययन करके उनकी रचना नहीं की, उनमें नैसर्गिक सरलता है; वे तो उसके हृदय से स्वतः प्रस्फुटित हो उठे हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे एक सुन्दर प्राकृतिक दृश्य के देखने से कवि के हृदय से कविता फूट पड़ती है। निबन्ध-रचनाओं की विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए ही हमें इस बात का निर्णय करना चाहिए कि निबन्ध-लेखक कौन है और लेख-लेखक कौन है। 'प्रसाद' के 'काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध', प्रेमचन्द के 'कुछ विचार' में संग्रहीत निबन्ध, रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षात्मक निबन्ध, इन सब की विषय-प्रतिपादन और शैली की दृष्टि से तुलना यदि बालमुकुन्द गुप्त की रचनाओं से की जाय तो मेरा कथन और भी स्पष्ट हो जायगा।

उपर्युक्त कसौटी पर कसने के बाद हमें अनेक लेखकों को, जिन्हें आये दिन 'निबन्धकार' शब्द से सुशोभित किया जाता है, केवल गद्य-शैलीकार के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा। निबन्ध के शास्त्रीय रूप को देखते हुए हम यह निस्संकोच कह सकते हैं कि हिन्दी में बहुत कम निबन्धकार हुए हैं। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, निबन्ध-रचना

का सूत्रपात भारतेन्दु-युग से होता है। बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र आदि ने सामाजिक, साहित्यिक और मनोरंजक विषयों पर सुन्दर निबन्ध लिखे। किन्तु उनके उपादान, विषय-विस्तार और शैली सीमित रही। द्विवेदी युग निबन्ध-रचना के परिमार्जन और विकास का युग है। स्वयं द्विवेदी जी ने विभिन्न गद्य-शैलियों को जन्म दिया, लेकिन एकाध रचना को छोड़कर उनकी शेष गद्य-रचनाएँ निबन्ध की कोटि में नहीं आतीं। इस युग के ही क्या, हिन्दी के समूचे निबन्ध-साहित्य के सर्वोत्कृष्ट निर्माता बालमुकुन्द गुप्त हैं। इस काल में माधव मिश्र, कृष्णबलदेव वर्मा, केशवप्रसाद सिंह, चतुर्भुज औदीच्य, यशोदानन्दन अखौरी, गुलेरी, बद्रीदत्त पाण्डेय, पूर्णसिंह आदि ने कुछ निबन्ध-रचनाएँ प्रस्तुत कीं और उन्नीसवीं शताब्दी के लेखकों की अपेक्षा व्यापक दृष्टिकोण, रूपों और शैली की विविधता और विषय-विस्तार प्रकट किया। रामचन्द्र शुक्ल के मनोविकारों पर लिखे गए निबन्ध भी हिन्दी-निबन्ध साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति हैं। वर्तमान समय में पं० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी प्रभृति लेखकों की कुछ रचनाएँ निबन्ध की कोटि में अवश्य आ जाती हैं, नहीं तो अब निबन्ध-रचना हिन्दी-साहित्य का प्रधान अंग नहीं रह गई। आधुनिक गद्य-लेखकों में मत-प्रतिपादन की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है, उनके जीवन में व्यावहारिकता है। वास्तविक निबन्ध-रचना के लिए 'The essayist must not have a castle' अथवा लेखक में वह चीज़ होनी चाहिए जिसे अँग्रेज़ी शब्द 'reverie' द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। जब तक हिन्दी के लेखकों में यह चीज़ पैदा न होगी तब तक निबन्ध-साहित्य का भविष्य उज्ज्वल नहीं है।

हिन्दी में आलोचना-शास्त्र की विचित्र स्थिति है और वह उसका सबसे कमज़ोर अंग है। भारतेन्दु-युग तक आलोचना के मध्ययुगीन मापदण्डों के ह्रास के बाद गुण-दोष-विवेचन, आदर्शवादी, प्रभाववादी, स्वच्छन्दतावादी, भावात्मक, तुलनात्मक, व्याख्यात्मक, निर्णयात्मक, छायावादी, अभिव्यंजनावादी, मार्क्सवादी या प्रगतिवादी, मनोवैज्ञानिक आदि अनेक प्रकार की प्रणालियाँ प्रचलित हैं। यदि यह कहा जाय कि जितने आलोचक हैं उतने ही प्रकार की प्रणालियाँ हैं तो अनौचित्य न होगा। हमारे आलोचक विभिन्न 'वाद' ग्रहण करके विविध आलोचनात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। हिन्दी में आलोचना-शास्त्र के सम्पूर्ण विकास को दृष्टिगत रखते हुए हम उसके तीन रूप निर्धारित कर सकते हैं। प्रथम रूप संस्कृत-समालोचना-सिद्धान्त का या निर्णयात्मक रूप है। इस प्रणाली को ग्रहण करते समय संस्कृत आचार्यों और ग्रन्थों की ही दुहाई दी गई और हिन्दी के रीति-कवियों को उदासीनता की दृष्टि से देखा गया। द्वितीय रूप पाश्चात्य समालोचना-सिद्धान्तों का है। इस रूप का आश्रय ग्रहण करने वालों से यह शिकायत है कि वे पाश्चात्य आचार्यों के दो-चार ग्रन्थ पढ़कर ही अपने को योग्य समझने लगते हैं। यही कारण है कि ऐसे आलोचकों की रचनाएँ अधकचरे प्रयास-मात्र होकर रह जाती हैं। तीसरा रूप वह है जिसमें प्राचीन भारतीय और पाश्चात्य सिद्धान्तों के समन्वय की चेष्टा की जाती है। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने इसी प्रकार के समन्वय की चेष्टा की थी। जीवन की नवीन परिस्थितियों और नवीन सामाजिक चेतना के कारण विशुद्ध भारतीय दृष्टिकोण अपनाना तो अब असम्भव है। किन्तु दुर्भाग्यवश अन्य दो रूपों की भी कोई विशिष्ट और निश्चित परम्परा स्थापित

नहीं हो पाई। वर्तमान समय में हिन्दी आलोचना-शास्त्र विभिन्न मतवादों का अजायबघर बना हुआ है। उसका प्रधान आधार वैयक्तिक रुचि-अरुचि है, न कि कोई सैद्धान्तिक आधार। एक ही आलोचक की समीक्षाओं में परस्पर विरोधिनी बातें मिलती हैं और उनका कोई सुसंगत रूप नहीं मिलता। स्थूल रूप से इतना अवश्य कहा जा सकता है कि हिन्दी में आज आलोचना की व्याख्यात्मक शैली का ही अधिक आश्रय ग्रहण किया जाता है—आलोचक चाहे छायावादी हो या प्रभाववादी, प्रगतिवादी हो या प्रयोगवादी। पाश्चात्य समीक्षा-प्रणालियों का तो अध्ययन किया ही जा रहा है, किन्तु इधर भारतीय आलोचना-सिद्धान्त-सम्बन्धी ग्रन्थ भी प्रकाशित हो रहे हैं और अधिक गम्भीर आलोचकों का रुख दोनों के सामंजस्य की ओर है। वैसे तो प्रत्येक आलोचक का अपना-अपना दृष्टिकोण रहेगा और रहना चाहिए, तब भी आवश्यकता इस बात की कि है प्रयोगों और अधकचरी प्रणालियों की स्थिति से निकलकर हिन्दी-आलोचना व्यापक वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित हो और जो हमारी नवीन सामाजिक एवं साहित्यिक चेतना का प्रतिनिधित्व करने वाली हो। तभी हमें एक दूसरा रामचन्द्र शुक्ल भी मिल सकेगा।

प्रस्तुत पुस्तक में संकलित लेखों में गद्य की इन्हीं विविध प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला गया है। हम अभी आधुनिक साहित्य के बहुत निकट हैं और उसके बारे में बहुत-सी उलझनें और सन्देहपूर्ण स्थल हैं। तब भी यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि हिन्दी-जीवन के पिछले सौ वर्षों का समय मानसिक उथल-पुथल और बौद्धिक क्रान्ति का युग रहा है। विविध प्रकार की धाराओं-अन्तर्धाराओं के बीच होकर हम गुज़र रहे हैं और आज हम हिन्दी-साहित्य के ऐतिहासिक सन्धि-स्थल पर खड़े नवयुग की आशा-भरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। गेटे ने एक स्थान पर कहा है: 'We bid you hope'। इतिहास हमें इससे अच्छा सन्देश नहीं दे सकता।

—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

सूची

१

नलिनविलोचन शर्मा

हिन्दी-उपन्यास

हिन्दी-उपन्यास का इतिहास, किसी भी देश के उपन्यास के इतिहास की तरह, हिन्दी-भाषी क्षेत्र की सभ्यता और संस्कृति के नवीन रूप के विकास का साहित्यिक प्रतिफलन है। समृद्धि और ऐश्वर्य की सभ्यता महाकाव्य में अभिव्यंजना पाती है; जटिलता, वैषम्य और संघर्ष की सभ्यता उपन्यास में। हिन्दी-उपन्यास के लिए जैसे-जैसे कच्चा माल तैयार होता गया वैसे-वैसे पश्चिम की तथाकथित भौतिक सभ्यता हमारी वाणी और वेश-भूषा को ही नहीं, प्रत्युत हमारी दृष्टि और चेतना को भी आक्रान्त करने में सफल होती गई। हमारे उपन्यास यदि आज पश्चिमी उपन्यासों के समकक्ष सिद्ध नहीं होते तो मुख्यतः इसलिए कि हमारी वर्तमान सभ्यता अपेक्षया आज भी कम जटिल, कम उलझी हुई और कहीं ज्यादा सीधी-सादी है।

उपन्यास सर्वत्र ही साहित्य का उपेक्षित अंग रहा है। उद्देश्य की दृष्टि से वह मात्र मनोरंजन का साधन बनकर रह जाता था। साहित्यिक उत्कर्ष के लिए उसे 'गद्य-काव्य' बनकर उन गुणों से मण्डित होना पड़ता था जो वस्तुतः काव्य के हैं। 'कथा सरित्सागर', 'अलिफ़ लैला', 'डिकामेरन' मनोरंजन के साधन-मात्र थे; 'हर्षचरित' या 'कादम्बरी' की विशेषता यह है कि उनमें वे गुण हैं जो संस्कृत-काव्य के लिए शोभाकर होते हैं। शताब्दियों की प्रतीक्षा के बाद साहित्य का यह अन्त्यज अपनी छिपी सम्भावनाओं को लेकर अपनी सामर्थ्य का परिचय दे सका है और अब तो आभिजात्य का भी दावा कर सकता है। देवकीनन्दन खत्री से लेकर अज्ञेय तक के हिन्दी-उपन्यास का इतिहास इस सामान्य तथ्य का दृष्टान्त है।

उपन्यास आज भी गल्प (Fiction) की व्यापक श्रेणी में रखा जाता है, किन्तु आज वह नाम को ही गल्प रह गया है। जब तक उपन्यास गल्प-मात्र था तब तक उसका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन और गौण उपदेश रहता था। आज गल्प, गल्प नाम के बावजूद, सत्य और केवल सत्य की, नाना दृष्टियों से गृहीत और अनेकानेक पद्धतियों से अंकित चित्र-शृङ्खला बन चुकी है। आज भी गल्प की एक शाखा गल्प बनी हुई है और मनोरंजन का लोकप्रिय साधन है, उदाहरण के लिए जासूसी उपन्यास, किन्तु इस विवेचन में उसे ध्यान में नहीं रखा गया है। हिन्दी-उपन्यास की छोटी अवधि में भी अंग्रेजी या फ्रेंच भाषा के उपन्यास के विस्तीर्ण इतिहास की विकास-प्रक्रियाओं की संक्षिप्त परन्तु पूर्ण रूप-रेखा वर्तमान है। गल्प किस तरह सत्य बन गया यह हिन्दी में थोड़े में ही देखने को मिल जाता है।

हिन्दी-उपन्यास के स्वल्प-परिसर इतिहास के अध्ययन के लिए काल-विभाजनों को, जिन्हें साहित्यिक इतिहासकारों ने 'उत्थान'[1] की संज्ञा दी है, मैं निष्प्रयोजन पाता हूँ। इसी प्रकार

---

१. शुक्ल जी

उपन्यासकारों के नामानुसार विभिन्न 'स्कूलों' और साहित्यिक व्यक्तित्व के आधार पर पुकारे जाने वाले युगों को भी, अपने उद्देश्य के लिए, मैं महत्त्व-रहित विभाजक चिह्न-मात्र मानता हूँ। हिन्दी-उपन्यास के विकास की सीमा-रेखाएँ उसके भीतर ही मिलती हैं, हालाँकि उन्हें सावधानी के साथ पहचानने और साफ करने की चेष्टा नहीं हुई है।

ये सीमा-रेखाएँ अधिक नहीं हैं, मुख्यतया केवल दो ही हैं और दोनों ही केवल एक ही उपन्यासकार में निहित हैं। अवश्य वह उपन्यासकार प्रेमचन्द हैं।

'गोदान' के पहले तक के प्रेमचन्द हिन्दी-उपन्यास के अतीत की चरम परिणति के पथ-चिह्न हैं। 'गोदान' के रचयिता प्रेमचन्द ही हिन्दी के वर्तमान और भविष्य के निर्देशक हैं। प्रेमचंद उस शिखर के समान हैं जिसके दोनों ओर पर्वत के दो भागों के उतार-चढ़ाव हैं। हमें पर्वत के दोनों भागों और उसके शिखर को, दूर से और समीप से, अवलोकन का प्रयास करना है।

हिन्दी में उपन्यास-रचना का प्रारम्भ हुआ तो उसका सम्बन्ध प्राचीन औपन्यासिक परम्परा से नाम-मात्र का भी नहीं था। इस दृष्टि से हिन्दी-उपन्यास की स्थिति हिन्दी-काव्य से सर्वथा भिन्न है। संस्कृत के प्राचीनतम काव्य से लेकर अधुनातन हिन्दी-काव्य की परम्परा अविच्छिन्न है; किन्तु हिन्दी का उपन्यास साहित्य का वह पौधा था, जिसे अगर सीधे पच्छिम से नहीं लिया गया हो तो उसका बँगला कलम तो लिया ही गया था, न कि सुबन्धु, दण्डी और बाण की लुप्त-परम्परा पुनरुज्जीवित की गई थी।

इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि हिन्दी-उपन्यास अपने पैरों पर खड़ा होने के पहले घुटनों के बल भी काफ़ी दिनों तक चलता रहा था। अपने इन आरम्भिक दिनों में उपन्यास मुख्यतः मनोरंजन का साधन था, यद्यपि वह नीति और उपदेश का स्वाँग भी भरता था। जिस ज़माने में हिन्दी का उपन्यास ही नहीं, हिन्दी का पाठक भी, शैशवावस्था में था तो देवकीनन्दन खत्री के औपन्यासिक खिलौने मनोरंजन के परम लोकप्रिय साधन थे, किन्तु उन्हें उनके निर्माता ने नीतिवादी आलोचकों का मुँह बन्द करने के लिए, उपदेशप्रद भी सिद्ध कर दिखाया था।[1] उपन्यास के उद्देश्य के सम्बन्ध में इस दृष्टिकोण का वास्तविक रूप कुछ बाद के एक उपन्यास के विज्ञापन की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है "......इसमें मनोरंजन के अलावा उत्तम शिक्षा की भी पूर्ण मात्रा है। कोई परिच्छेद ऐसा नहीं जिसके पढ़ने से कोई-न-कोई उत्तम शिक्षा न मिलती हो...।"[2] समासतः देवकीनन्दन खत्री के ऐयारी या तिलिस्म वाले उपन्यास[3] हों या किशोरीलाल गोस्वामी के एतादृश अथवा ऐतिहासिक-रूमानी उपन्यास[4] या गोपालराम गहमरी

---

१. देवकीनन्दन खत्री के पत्र का एक लम्बा अंश डॉ० वार्ष्णेय की पुस्तक में उद्धृत है।

२. गया से प्रकाशित होने वाली 'लक्ष्मी' नामक मासिक पत्रिका के जनवरी १९१७ के अंक में लाला भगवानदीन के उपन्यास 'अघट घटना' के विज्ञापन से। हिन्दी-पुस्तक-साहित्य' में इस उपन्यास का उल्लेख नहीं।

३. उपन्यासों के नाम 'हिन्दी-पुस्तक-साहित्य' में देखे जा सकते हैं। वार्ष्णेय की पुस्तक में तथा उपन्यास-सम्बन्धी दूसरी पुस्तकों में कुछ ब्यौरे मिलते हैं, आलोचना नगण्य है।

४. उपरिवत्।

के जासूसी उपन्यास,[१] सभी उपन्यास का गल्प नाम सार्थक करते थे।

किन्तु साहित्य का यह रूप जन्मना निम्न श्रेणी का होने पर भी कितना महत्त्वाकांक्षी था, यह इसीसे पता चलता है कि जब वह मनोरंजन का साधन बनकर लोकप्रिय हो रहा था, तभी वह सामाजिक जीवन के सत्य का वाहक बन सकने के लिए भी प्रयास कर रहा था, यद्यपि उसे पूर्णतः कृतकार्य होने के लिए तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ी जब तक प्रेमचन्द ने उसका अछूतोद्धार नहीं कर दिया। प्रेमचन्द के पूर्व श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट और राधाकृष्णदास ने उपन्यास को मनोरंजन के स्तर से ऊपर जरूर उठाया था, किन्तु उन्होंने प्रेमचन्द को प्रत्याशित या प्रभावित किया था,[२] यह उद्भावना निराधार है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में हिन्दी-उपन्यास की ये दोनों धाराएँ सहसा एक होकर अतिशय महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं। प्रेमचन्द के उपन्यास आपाततः मनोरंजन के साधन भी हैं और सत्य के वाहक भी। स्वयं प्रेमचन्द के उपन्यासों में भी 'गोदान' इसका अपवाद है—वह मात्र सत्य का वाहक है।

प्रेमचन्द में हिन्दी-उपन्यास की क्षीण और लक्ष्यहीन धाराएँ सम्मिलित होकर महा नद बनीं और उनके जीवन-काल में ही वे अनेक मन्द-तीव्र धाराओं में विभक्त भी हो गईं। मुख्य धारा से हटकर स्वयं प्रेमचन्द भी एक सर्वथा नवीन दिशा की ओर मुड़े थे। यह उनका सबसे महत्त्वपूर्ण, मौलिक और महान् प्रयास था, लेकिन इसके लिए ऐसे व्यापक अनुभव, मानवीयता और स्थापत्य-कौशल की जरूरत थी कि इसमें प्रेमचन्द अकेले ही रह गए; उनके इस प्रयोग का अनुकरण उस तरह अनगिनत उपन्यासकारों ने नहीं किया जिस तरह उनके पूर्ववर्ती उपन्यासों का किया था। 'गोदान' हिन्दी की ही नहीं स्वयं प्रेमचन्द की भी एक अकेली औपन्यासिक कृति है, जिसके उच्चावच, विराट् विस्तार, निर्मम, तटस्थ यथार्थता और सरलता की पराकाष्ठा तक पहुँचकर अत्यन्त विशिष्ट बन गई शैली किसी एक भारतीय उपन्यास में एकत्र नहीं मिलती।

हिन्दी के आलोचकों ने एक स्वर से[३] 'गोदान' की यह आलोचना की है कि उसकी

---

१. उपरिवत्।

२. रामविलास शर्मा, 'भारतेन्दु-युग' में।

३. (क) "केवल निर्माण की दृष्टि से स्वयं प्रेमचन्द 'सेवा सदन' को फिर न पा सके।"

—रामविलास शर्मा

(ख) " 'गोदान' का कथानक किसान-महाजन-संघर्ष को लेकर रचा गया है, उच्च वर्ग केवल चरित्र की पूर्णता के लिए है।"

(ग) " 'गोदान' ग्रामीण जीवन का चित्र है।"

—प्रकाशचन्द्र गुप्त

(घ) "इस उपन्यास का बृहत् शरीर जिस देहाती जीवन के मेरुदण्ड पर खड़ा है उसकी प्रचुरता और विदग्धता को देखते हुए इतर प्रसंग 'क्षेपक'-से लगते हैं; इन क्षेपकों के कारण ही उपन्यास स्थूलकाय हो गया है।"

—शान्तिप्रिय द्विवेदी

(ङ) " 'गोदान' में गाँव के चित्र अधिकारी (आधिकारिक) रूप से तथा शहर के चित्र प्रासंगिक रूप से आए हैं।"

—गुलाबराय

कथा-वस्तु असम्बद्ध है। वस्तुतः यही 'गोदान' के स्थापत्य की वह विशेषता है जिसके कारण उसमें महाकाव्यात्मक गरिमा आ जाती है। नदी के दो तट असम्बद्ध दीखते हैं पर वे वस्तुतः असम्बद्ध नहीं रहते—उन्हींके बीच से जल-धारा बहती है। इसी तरह 'गोदान' की असम्बद्ध-सी दीख पड़ने वाली दोनों कहानियों के बीच से भारतीय जीवन की विशाल धारा बहती चली जाती है। भारतीय जन-जीवन का, जो एक ओर तो नागरिक है और दूसरी ओर ग्रामीण और जो एक साथ ही अत्यन्त प्राचीन भी है और जागरण के लिए छटपटा भी रहा है, इतने बड़े पैमाने पर इतना यथार्थ चित्रण हिन्दी में ही क्यों, किसी भी भारतीय भाषा के किसी उपन्यास में नहीं हुआ है। यदि 'गोदान' का स्थापत्य कृत्रिम रूप से सुसंघटित रहता तो अवश्य ही वह भारतीय जीवन के वैविध्य और आँखों के सामने चलने वाली, अतः अस्पष्ट, परिवर्तन की प्रतिक्रियाओं की व्यस्तता का चित्रागार नहीं बन पाता। बहुत पहले 'प्रेमाश्रम' में, फिर 'रंगभूमि' में, प्रेमचन्द ने इन प्रक्रियाओं को पकड़ने की कोशिश की थी किन्तु तब वे पात्रों के विलक्षण व्यक्तित्व के चित्रण और स्थापत्य के कृत्रिम बन्धन के अतिक्रमण की सामर्थ्य अपने में विकसित नहीं कर सके थे। 'गोदान' में अपने 'प्रौढ़ि-प्रकर्ष' के कारण प्रेमचन्द ने 'पुराण-रीति' का 'व्यतिक्रम' किया और हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए यदि हिन्दी के रूढ़िवादी विद्वान् इसे उनकी असफलता मान बैठे।

प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती और समसामयिक उपन्यासकारों के लिए ही नहीं, स्वयं प्रेमचन्द के लिए भी, भाषा दुर्लंघ्य विघ्न-पाषाण सिद्ध होती रही। इस सम्पूर्ण अवधि के हिन्दी-उपन्यासकार अंग्रेजी गद्य की बारीकियों को समझ सकने में असमर्थ थे, क्योंकि उनका अंग्रेजी का ज्ञान अत्यन्त और अधिकतर नहीं के बराबर था। जिस प्रतिवेशी भाषा, बँगला, के उपन्यासों से हिन्दी के लेखक उपन्यास-रचना की प्रत्यक्ष प्रेरणा पाते रहे और ज्यादा तो उसके उपन्यासों के अनुवाद ही कर जाते थे, स्वयं उसका गद्य भी अनुकरणीय आदर्श नहीं उपस्थित करता था। उस पर भी संस्कृत-गद्य का वह प्रभाव था जिसका मोह हिन्दी के लेखकों को छोड़ देना आवश्यक भी था, पर जिसकी ओर उनकी ललचाई आँखें दौड़ ही पड़ती थीं। श्रीनिवासदास प्रभृति, लेखक, जो उपन्यास को साहित्य के सार्थक और गम्भीर रूप की दृष्टि से ग्रहण करते थे, नाटक के कल्याणकर प्रभाव के परिणामस्वरूप उपन्यासों में भी स्वाभाविक भाषा में कथोपकथन प्रस्तुत करते थे, किन्तु अपनी ओर से वर्णन करने का अवसर मिला नहीं कि उनका गद्य संस्कृत के गद्य-काव्य की विडम्बना करने लग जाता था। किशोरीलाल गोस्वामी-जैसे पाठकों के मनोरंजनार्थ लिखने वाले उपन्यासकार में भी हम भाषा-सम्बन्धी यह भ्रान्त दृष्टिकोण पाते हैं।[१] यदि अपवाद हैं तो देवकीनन्दन खत्री, जो निष्प्राण, पर निराडम्बर गद्य लिखते थे और निस्सन्देह इसीलिए हर-दिल-अजीज बन सके थे। बाद के बहुतेरे ऐयारी और तिलिस्म वाले उपन्यासों में भी लच्छेदार भाषा मिलती है। देवकीनन्दन खत्री की लोकप्रियता और सफलता की चाह रखने वाले लेखक यह नहीं समझते थे कि खत्री जी का रहस्य सुरंग और लखलखा नहीं था बल्कि भाषा की वह सादगी थी जो अमोघ सिद्ध होती थी। प्रेमचन्द ने, जिन्होंने अपने समय के असंख्य युवकों की तरह देवकीनन्दन खत्री की

१. **बाद तक हिन्दी-उपन्यास में गद्य का यह रूप देखने को मिलता रहता है—'प्रसाद' और 'निराला' में अपने प्रकृष्ट रूप में और चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' एवं नन्दकिशोर तिवारी में अन्तिम साँस लेता हुआ।**

पुस्तकें चाव से पढ़ी थीं, भाषा की इसी सादगी को शैली की विशिष्टता में रूपान्तरित और उन्नत किया था। यह प्रेमचन्द के लिए तब सम्भव हुआ जब उन्होंने उर्दू-गद्य का आकर्षक दोष, जबानदराजी का मोह, कठिनता से, पर कठोरता पूर्वक, धीरे-धीरे बिलकुल छोड़ दिया। 'गोदान' में प्रेमचन्द की शैली उर्दू-गद्य की आलंकारिकता के निर्मोक से सर्वथा मुक्त हो गई है। 'गोदान' की महत्ता का, स्थापत्य-कौशल के अतिरिक्त, शैली मुख्य कारण है—वह शैली, जिसकी ओर ध्यान भी नहीं जाता, यहाँ तक कि विद्वानों ने उसका उल्लेख भी अनावश्यक समझा है, यों भाषा की सादगी के नाम पर चलते-चलाते प्रशंसा के कुछ शब्द भले कह दिए हों।

प्रेमचन्द के समसामयिक सुदर्शन भी प्रेमचन्द की तरह उर्दू से हिन्दी में आये थे। उन्हें और 'कौशिक' को निरपवाद रूप से 'प्रेमचन्द-स्कूल' के लेखकों के रूप में स्मरण किया जाता है।[1] ये वस्तुतः प्रेमचन्द की तरह मुहावरेदार, चलती, सरल और टकसाली भाषा लिखते थे, पर इनकी भाषा के ये गुण विशिष्ट शैली स्तर पर कभी नहीं पहुँच सके। फलतः प्रेमचन्द के साथ इन गल्पकारों की तुलना ऊपर से दीख पड़ने वाली समानता के आधार पर ही की जा सकती है।

प्रेमचन्द के समकालीनों में इनसे कहीं अधिक उल्लेखनीय हैं जयशंकर 'प्रसाद'[2] और बेचन शर्मा 'उग्र', जिनके 'स्कूलों' की भी चर्चा हिन्दी के साहित्यिक इतिहास की पाठ्य-पुस्तकों में अवश्य कर दी जाती है। ये दोनों ही उपन्यासकार विरोधाभास के विलक्षण दृष्टान्त हैं : काव्य और नाटक में परम आदर्शवादी बने रहने वाले 'प्रसाद' 'कंकाल' में घोर प्रकृतवादी का रूप ग्रहण कर लेते हैं और सुधार की भावना से लिखने की प्रतिज्ञा करने वाले 'उग्र' वर्जित विषयों पर लिखकर 'घासलेटी',[3] अर्थात् तथाकथित अश्लील साहित्य के रचयिता के रूप में पाठकों के प्रिय और सम्पादकों के कोप-भाजन बनते हैं। इन दोनों उपन्यासकारों ने जीवन के सत्यों को उद्घाटित करने का निर्भीक साहस दिखाया था—प्रथम ने सत्य का श्वासावरोध करने वाली फीलपाँवी भाषा में और दूसरे ने पर्चेबाज के 'जोश'[4] के साथ। इनके विषय की यथार्थता इनकी भाषा की

---

१. सुदर्शन ने केवल कहानियाँ लिखी थीं; कौशिक भी कहानीकार के रूप में ही प्रसिद्ध थे यद्यपि 'माँ' तथा 'भिखारिणी' नामक उनके दो उपन्यास भी हैं। 'भिखारिणी' 'हिन्दी-पुस्तक-साहित्य' में कहानी के अन्तर्गत निर्दिष्ट है किन्तु यह गलत है, वह उपन्यास है न कि कहानी-संग्रह।

२. 'प्रसाद' के 'तितली' और 'इरावती' नामक उपन्यास सर्वथा महत्त्व-रहित हैं। उन्हे केवल 'कंकाल' के कारण ही उपन्यासकार के रूप में स्मरण किया जा सकता है।

३. 'घासलेटी-साहित्य' का प्रयोग अश्लील साहित्य के अर्थ में, कदाचित् 'उग्र' के बारे में ही सर्वप्रथम किया गया था। इस शब्द के निर्माण का श्रेय, जहाँ तक मेरा अनुमान है, बनारसीदास चतुर्वेदी को है। शब्द भोंडा और ग्राम्य है पर थोड़े दिनों तक उसने सनसनी खूब फैलाई थी। प्रस्तुत लेखक के निबन्ध-संग्रह 'दृष्टिकोण' में साहित्य में अश्लीलता और ग्राम्यता पर सामान्य रूप से और 'उग्र' पर विशेष रूप से विवेचन किया गया है।

४. 'उग्र' ने अपने बहुत बाद के एक निबन्ध में, जो प्रयाग से प्रकाशित होने वाले 'कर्मयोगी' में छपा था, 'जोश' को साहित्य का बहुत बड़ा गुण सिद्ध किया था। 'जोश' इस प्रसंग में उन्हींका शब्द है, उसकी महिमा अवश्य नहीं मानी गई है।

अयथार्थता के कारण मारी जाती है और उपन्यासकार के रूप में ये उस महत्त्व के अधिकारी नहीं बन सके जिसके आसानी से बन सकते थे।

'प्रसाद' अपनी अलंकृत शैली के कारण बाद की पीढ़ी के उपन्यसाकारों के द्वारा अनुकृत नहीं हुए, यद्यपि यथार्थवाद, मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद और साम्यवादी यथार्थवाद की द्विविध धाराओं में, विकसित हुआ। 'उग्र' की नाटकीय शैली का असफल अनुकरण लोक-साहित्य के कुछ लेखकों ने किया, किन्तु उनमें न तो उनके आदर्श लेखक की सोद्देश्यता थी, न मर्मभेदी दृष्टि, जिनसे शैली की कृत्रिमता या विषय की तथाकथित अश्लीलता अंशतः क्षम्य हो जाती हैं।

प्रेमचन्द के 'गोदान' का अनुकरण असम्भव-प्राय कार्य था और वह हुआ भी नहीं। किन्तु उसके पूर्व के प्रेमचन्द का खूब ही अनुकरण हुआ। हिन्दी के कुछ महत्त्वपूर्ण और अधिकतर साधारण उपन्यासकारों के लिए प्रेमचन्द ने एक सुगम मार्ग उद्घाटित कर दिया था। 'देहाती दुनिया' के लेखक शिवपूजनसहाय ऐसे उपन्यासकारों में श्रेष्ठ हैं। राधिकारमणप्रसाद सिंह, चतुरसेन शास्त्री, प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त', अनूपलाल मण्डल और भगवतीचरण वर्मा भी इस श्रेणी में परिगणनीय हैं।

हमने हिन्दी-उपन्यास-साहित्य के चढ़ाव को पार कर लिया है और उसके शिखर 'गोदान' को तनिक ठहरकर, ध्यान के साथ, देखने में समय लगाया है। शिखर के इस पार का देश हमारे लिए इतना परिचित, इतना समीप है कि हम उसकी बहुत सी बातों को देख भी लेते हैं तो सम्यक् पर्यवस्थिति के अभाव में समझ नहीं पाते। पर इतना तो है ही कि यहाँ रेत है तो हरियाली की भी कमी नहीं है, गड्ढे और दलदल हैं तो छोटी-मोटी चोटियाँ भी जरूर हैं।

१९३६ में प्रेमचन्द का 'गोदान' प्रकाशित हुआ था;[1] १९३६ में ही जैनेन्द्र की 'सुनीता' प्रकाशित हुई थी। प्रेमचन्द ने अपने दशाधिक उपन्यासों की उपलब्धि को एक ओर रख कर 'गोदान' में व्यापक-से-व्यापकतम भारतीय जीवन को विषय के रूप में आकलित किया। जैनेन्द्र ने प्रेमचन्द की, और अगर प्रेमचन्द की नहीं तो समस्त हिन्दी-उपन्यास-साहित्य की, उपलब्धि का प्रत्याख्यान करने का मौलिकतापूर्ण साहस दिखाया और 'गोदान' के रचयिता प्रेमचन्द से उन्हें सबसे अधिक प्रश्रय और प्रोत्साहन मिला। जैनेन्द्र ने गाँव, खेत, खुली हवा और सामाजिक जीवन के विस्तारों को छोड़कर शहर की गली और कोठरी की सभ्यता को व्यक्ति के आभ्यन्तर जीवन की गुत्थियों और गहराइयों को और भी पहले से अपने उपन्यासों का विषय बनाना शुरू कर दिया था। 'सुनीता' में उपन्यासकार ने सबसे गहरी डुबकी लगाई थी। पश्चिम के मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों की किंवदन्ती सुन रखने वाले हिन्दी के आलोचकों ने जैनेन्द्र के उपन्यासों पर फ्रायड का प्रभाव घोषित करके अपनी पण्डितम्मन्यता को सन्तुष्ट किया; स्वयं जैनेन्द्र ने ईमानदारी का परिचय देते हुए सदैव इस आरोपित प्रभाव को अस्वीकार किया। सत्य भी यही है कि व्यक्ति-केन्द्रित होने पर भी जैनेन्द्र के उपन्यासों में मनोविश्लेषण की प्रणाली की छाया भी नहीं है। जैनेन्द्र में, वस्तुतः, हिन्दी ने एक शरच्चन्द्र के अभाव की पूर्ति पा ली। हिन्दी-भाषी-क्षेत्र के पिपठिषु पाठक

१. प्रकाशन-काल सम्बन्धी ऐसी समस्त सूचनाओं के लिए मेरे पास सुलभ आकर-ग्रन्थ है 'हिन्दी-पुस्तक-साहित्य'। यदि उसमें छोटी-मोटी भूलें भी हों तो उनसे वैसी कोई हानि नहीं होगी, क्योंकि मैं अपने इस प्रबन्ध में प्रवृत्तियों के निरूपण के लिए ही प्रयास कर रहा हूँ, विवरण तो बहुत कम ही दे पाया हूँ।

उन दिनों राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों के कारण और अपनी सांस्कृतिक एवं बौद्धिक वयःसन्धि के फलस्वरूप, अपरिणत, कुण्ठाग्रस्त और भावुकता के शिकार थे। प्रेमचन्द ने शरच्चन्द्र की तरह स्त्रैण-भाव को अपनाने में अपनी अरुचि कबूल की थी।[1] कुछ छायावादियों ने, विशेष रूप से गौण छायावादियों ने, काव्य के माध्यम से शरच्चन्द्र की अश्रु-पंकिल भावुकता का समावेश हिन्दी में किया था, पर वह अपर्याप्त सिद्ध हुआ था। उनकी अव्याख्येय पीड़ा की तुलना में जैनेन्द्र के आत्म-पीड़न सुख के लोभी पात्रों की कारुणिकता खूब ही लोकप्रिय हुई। फिर भी यह उल्लेखनीय है कि इस फन के उस्ताद शरच्चन्द्र की अनूदित पुस्तकें इस ज़माने में जितनी संख्या में बिकीं उसकी तुलना में जैनेन्द्र की भी लोकप्रियता नगण्य थी।

यदि जैनेन्द्र ने 'परख' या 'त्याग पत्र' आदि उपन्यास ही लिखे होते और 'सुनीता' नहीं लिखी होती, तो वे शरच्चन्द्र की छाया-मात्र बनकर रह जाते। किन्तु जिस तरह 'गोदान' लिखकर प्रेमचन्द अपने दूसरे उपन्यासों की औसत से अच्छी साधारणता से बहुत ऊपर उठ सके थे, उसी तरह जैनेन्द्र 'सुनीता' के लेखक के रूप में शरच्चन्द्र की छाया से अधिक महत्त्व के अधिकारी बन जाते हैं। सुनीता की नग्नता को कम मानकर यशपाल ने 'दादा कामरेड' लिखा था और शायद उसे ही चुनौती मानकर द्वारिकाप्रसाद ने, हाल में, 'घेरे के बाहर' लिख डाला है, किन्तु नग्न सुनीता की प्रतिमा गढ़ने में जैनेन्द्र ने जैसा तरुण-कौशल प्रदर्शित किया है वह महान् उपन्यासों में भी क्वचित् कुत्रचित् ही देखने को मिल पाता है।

जैनेन्द्र की भाषा की भी बहुत बड़ी विशेषता है उसकी सादगी, किन्तु वह न तो देवकीनन्दन खत्री, सुदर्शन और कौशिक की भाषा की सादगी है, न प्रेमचन्द की ही। पहले वर्ग के उपन्यासकारों की तुलना में जैनेन्द्र की भाषा की सादगी में प्रत्यभिज्ञेय वैशिष्ट्य है; प्रेमचन्द की सहज सरलता के विपरीत जैनेन्द्र में सचेष्ट असचेष्टता है। जैनेन्द्र के गद्य की शैली उनकी भाषा के इसी गुण से रूप ग्रहण करती है, किन्तु असचेष्टता की अतिशयता के कारण बार-बार पाठक का ध्यान आकृष्ट करती है और लेखक के गुर, ढंग के रूप में पहचान में आ जाती है। जैनेन्द्र सत्य को स्वयं बोलने के लिए छोड़कर सन्तुष्ट नहीं रह जाते, जैसा प्रेमचन्द अपनी बाद की रचनाओं में सहज भाव से करते थे, बल्कि सत्य पर अपनी धार चढ़ाकर सामने रखते हैं। फलतः विषय के सत्य की तीक्ष्णता शैली की तीक्ष्णता के कारण गौण पड़ जाती है और समूची कृति क्षति-ग्रस्त हो जाती है।

१६१६ में 'सौन्दर्योपासक' लिखकर ब्रजनन्दनसहाय ने उल्लेखनीय व्यक्तिपरक उपन्यास प्रस्तुत किया था। १६२३ में अवधनारायण का भावुकता-प्रधान उपन्यास 'विमाता' प्रकाशित हुआ था। जैनेन्द्र के भावुकता-प्रधान व्यक्तिपरक उपन्यासों में ये धाराएँ समन्वित हो गई हैं। बाद के कुछ उपन्यासकारों ने जैनेन्द्र की भावुकता और शैली का अनुकरण किया पर वे हिन्दी के अत्यन्त गौण उपन्यासकार हैं।[2]

जैनेन्द्र पर न तो फ्रायड का ही प्रभाव था, न अन्य पाश्चात्य साहित्यिक धाराओं का ही। जैनेन्द्र के साथ और बाद में ऐसे प्रभावों का आधिक्य दीख पड़ता है।

---

१. प्रेमचन्द ने अपने एक निबन्ध में इसका स्पष्टता के साथ निर्देश किया है। द्रष्टव्य— प्रेमचन्द : 'कुछ विचार'।

२. उदाहरणार्थ, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, सियारामशरण गुप्त आदि।

१६३२ में कृपानाथ मिश्र का 'प्यास' शीर्षक उपन्यास प्रकाशित हुआ था, जिसमें आधुनिक अंग्रेजी उपन्यासकारों और अंग्रेजी-गद्य की प्रमुख विशेषताएँ सफलता पूर्वक सन्निविष्ट थीं। जेम्स ज्वायस और वर्जीनिया वुल्फ के युगान्तरकारी प्रयोगों का इस उपन्यास में बड़े अधिकार के साथ समावेश किया गया था। फिर 'अज्ञेय' ने 'शेखर : एक जीवनी' में कुछ फ्रायड, क्राफ़्ट-एबिंग, हैवेलाक एलिस और कुछ लारेंस से अनेक उपादान लेकर कोनराड की प्रत्यग्दर्शन-प्रणाली का उदाहरण उपस्थित किया। 'अज्ञेय' इस उपन्यास में न तो प्रत्यग्दर्शन-प्रणाली के कठिन स्थापत्य का निर्वाह कर पाते हैं, न उपन्यास के मुख्य पात्र के प्रति-निर्लिप्तता का। उनके सद्यःप्रकाशित उपन्यास का नाम, 'नदी के द्वीप', 'चेतना के प्रवाह' का रूपान्तर है। 'नदी के द्वीप' हिन्दी का एक उल्लेख्य मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास है। जिस डी० एच० लारेंस की कविताएँ कण्ठस्थ और समय-असमय उद्धृत करते 'नदी के द्वीप' के पात्र थकते नहीं, यदि उसकी स्पष्टवादिता का शतांश भी 'अज्ञेय' में होता तो वे हिन्दी के लारेंस कहलाने के अधिकारी होते—और यह कम गौरव की बात न होती।[१] इलाचन्द्र जोशी ने 'प्रेत और छाया' में मनोविश्लेषण-विज्ञान के कुछ प्रचलित पारिभाषिक शब्दों का चर्वित-चर्वण किया है किन्तु इस विज्ञान की प्रणाली का लाभ उपन्यास के लिए वे उठा नहीं पाए हैं। 'अज्ञेय' और इलाचन्द्र जोशी की तुलना में द्वारिकाप्रसाद ने 'घेरे के बाहर' में मनोविश्लेषण की शास्त्रीय प्रणाली अपनाई है और 'रोगी का इतिहास' (Case book) ही तैयार कर दिया है। द्वारिकाप्रसाद ने 'अज्ञेय' की तरह मौन जीवन के तथ्यों पर कवित्वपूर्ण शैली और वर्णनों का रेशमी आवरण नहीं रखा है, न ताली के सूराख से शयनागार की झाँकी-भर दिखाकर निर्भीकता का श्रेय लेने की कोशिश की है। किन्तु, दूसरी ओर, खल्वाट शैली के कारण उनका उपन्यास अधिकतर 'रोगी का इतिहास'-मात्र बनकर रह जाता है। यह निःसंदिग्ध है कि इन सभी कृतियों में केवल 'नदी के द्वीप' में ही यत्र-तत्र हिन्दी का ऐसा दृढ़बन्ध, प्रौढ़ और परिष्कृत गद्य मिलता है जिसमें अँग्रेजी गद्य का उत्कर्ष आत्मसात् हो गया है।

विदेशी साहित्य की साम्यवादी धारा ने भी हिन्दी के समसामयिक उपन्यासकारों को प्रभावित किया है। साम्यवादी विचार-धारा को यशपाल ने अपने बहुसंख्यक उपन्यासों में अन्तर्भुक्त करने का प्रयास किया है, किन्तु वे घूम-फिरकर व्यक्ति की उस वर्जित परिधि में बँध जाते हैं, जिससे बचकर सामूहिक जीवन का चित्रण करने का सिद्धान्त साम्यवादी लेखक दुहराते रहते हैं। साम्यवादी दृष्टिकोण से लिखे गए राहुल सांकृत्यायन के ऐतिहासिक उपन्यास भी उपन्यास कम और नवीन दृष्टि से पुनर्निर्मित इतिहास अधिक हो गए हैं। हिन्दी के साम्यवादी साहित्यिक किसान-मजदूर के लेखक रूप में प्रेमचन्द की वीर-पूजा करते हैं। इस वर्ग के सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने सचमुच ही आश्चर्यजनक ज्ञान और अनुभव के साथ लिखा भी है। उनके बाद किसी उपन्यासकार ने किसान-मजदूर-वर्ग से सम्बद्ध उल्लेख्य उपन्यास नहीं लिखा है—घोर साम्यवादी उपन्यासकारों ने भी नहीं।

हिन्दी-उपन्यास की एक ही अन्य ऐसी धारा है जो क्षीण होने पर भी विचार के योग्य है। वृन्दावनलाल वर्मा, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', राहुल सांकृत्यायन और हजारीप्रसाद द्विवेदी

१. 'शेखर : एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' पर मैंने तनिक विस्तार से त्रैमासिक 'साहित्य', जनवरी १९५२, में विचार किया है।

ने ऐसे ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं जिनसे हिन्दी में स्काट, राखालदास वंद्योपाध्याय या मुन्शी के अभाव की पूर्णतः पूर्ति हो जाती है। किन्तु उपन्यास के लिए इतिहास का एकमात्र महत्त्व यह है कि वह विषय को बहुत दूर पर रखकर अवलोकनीय बना सकता है। अब जब तक इस दृष्टिकोण से ऐतिहासिक उपन्यास नहीं लिखे जाते तब तक उनका विशेष महत्त्व नहीं माना जा सकता।

शिवचन्द्र, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', रामचन्द्र तिवारी, विष्णु प्रभाकर, देवराज—और ऐसे तो अनेक दूसरे नाम हैं—हिन्दी-उपन्यास को बना-बिगाड़ रहे हैं। यह नव-निर्माण की अनिवार्य प्रक्रिया है।

प्रभाकर माचवे

२

ऐतिहासिक उपन्यास

आरम्भिक

इसिहास का अर्थ है इति-ह-आस यानी 'यह ऐसा हुआ।' उपन्यास का अर्थ ही है 'नवलिका' (नौवेले > नाविल) या कादम्बरी। पहला घटना का यथार्थ वर्णन है। दूसरा कल्पना का रोचक रम्य विलास है। तो क्या दोनों में कोई मौलिक विरोध है? क्या यथार्थ की गौर-मिट्टी से ही हमारी कल्पना नहीं बनती? और हमारे सपनों का कुछ असर हमारे यथार्थ के निर्माण पर पड़े बिना रहता है? और फिर ऐतिहासक उपन्यास एक कला-कृति भी है। यानी कलाकार व्यक्ति की मेधा और मार्मिक भावना से छनकर नया रूप और रंग दिखलाने वाला समाज-दर्शन! कलाकार व्यक्ति समाज-निरपेक्ष नहीं और न ही समाज व्यक्तियों से अप्रभावित रहा है।

मेरा विचार ऐतिहासिक उपन्यास की सृजन-समस्या के इस मौलिक अन्तद्वन्द्व पर कुछ कहना है; जिसमें मेरे पढ़े हुए इतिहास-वृत्तान्त और उन पर लिखे गए आख्यानों की बात भी आ जायगी। साथ ही अँग्रेजी, हिन्दी, मराठी, बँगला, गुजराती और अन्यान्य देश विदेशी ऐतिहासिक उपन्यासों की चर्चा भी होगी। ऐतिहासिक उपन्यास की समस्याएँ भी इसी में आयँगी।

इतिहास का दर्शन

हेगेल की एक पुस्तक इस नाम से मैंने पढ़ी थी। बाद में मार्क्सवादियों की ऐतिहासिक भौतिकवाद की व्याख्याएँ विशेषतः लेनिन-एंगेल्स की, और नव्य आदर्शवादी क्रोचे और तर्कवादी रसेल की भी इस विषय में गवेषणाएँ और मंतव्य मैने पढ़े हैं। एंगेल्स ने हेगेल के आदर्शवादी इतिहास दर्शन के विरोध में 'एण्टी-ड्यूहरिंग' में लिखा है—'The Hegelian system as such was a colossal miscarriage. It suffered from an internal and insoluble contradiction.' हेगेल एक ओर इतिहास को निरा विकास मानता है और दूसरी ओर इसी को चरम सत्य भी कहता है। यह परस्पर-विरोधी विधान हैं। मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि जैसे मैंने अपनी एक कविता में लिखा था—

मानव, क्या तेरा इतिहास?
ज्यादह आँसू, थोड़ा हास
रक्तपात साम्राज्य-विनाश,
चक्र-नेमि-क्रम पुनर्विकास!

इतिहास की प्रगति द्वन्द्वात्मक निश्चित है। परन्तु इसके विषय में तीन तरह के मत-विश्वास बहुप्रचलित हैं। एक मत को हम आवर्तवादी कहें। इनके अनुसार इतिहास की पुनरावृत्ति होती रहती है। हम पुनः लौटकर वहीं पहुँचेंगे जहाँ पहले थे। और इस तरह से मनुष्य से कृतित्व का सारा दायित्व और सारी महत्ता छीनकर किसी अज्ञात, रहस्यवादी शक्ति (ईश्वर, कर्म, नियति

प्रकृति या जो कुछ भी उसे कहें) के हाथों उसे सौंप देना है। इस मत के लोग पुनरुज्जीवनवादी होते हैं। उनके अनुसार फिर से हिन्दू या आर्य 'पद-पादशाही' का साम्राज्य हो सकेगा, या राम के राज्य की पुनरावृत्ति हो सकेगी। इन संकीर्ण पुनरुत्थानवादियों के तर्क से यदि कोई यह कहे कि पुनः 'कृण्वन्तो विश्वम् बौद्धम्' हो जायगा या कि फिर से मुग़लों की सल्तनत या गोरों की कम्पनीशाही भारत में आ जायगी, तो लोग हँसने लगेंगे। परन्तु सामाजिक मनोविज्ञान के अनुसार जीव की यह पुनः मूल की ओर जाने की वृत्ति (एटैविज़्म) एक प्रबल स्फूर्तिदायक प्रवृत्ति है। कहना नहीं होगा कि यह इतिहास-दर्शन चाहे कितना ही आदर्शवादी हो, कितना अवैज्ञानिक और अयथार्थ है। कलियुग के बाद फिर से प्रलय होगी और हज़रत नूह की किश्ती में सिर्फ आदम और हौआ मौज करेंगे, यह मानना अणु-युग में एक मज़ाक-मात्र है।

इसी आदर्शवादी पुनरुज्जीवनवादी वृत्ति को घटनाओं की तर्क-प्रतिष्ठा देकर और वैज्ञानिकता का बुर्का पहनाकर टायनबी-जैसे इतिहास-वेत्ता भी एक दूसरी दृष्टि इतिहास के बारे में देते हैं। वह है उत्थान-पतन की आवृत्ति, प्रतीत्य-समुत्पाद की तरह लहरियों का कार्य-कारण-परम्परा की तरह एक के बाद दूसरी का आना, यही इतिहास का सत्य है। इसमें भी मनुष्य केवल तरंगों पर के फेन-बुद्बुद की भाँति उठकर फूट जाते हैं। 'वे केवल महा मिलन के चिह्न की तरह बचे हैं।' यह वैसे तो बहुत-कुछ तर्क-संगत इतिहास-दर्शन जान पड़ता है, परन्तु यह पहले दर्शन की भाँति निराशावादी न होने पर भी स्थिति-स्थापकवादी दर्शन अवश्य है। इसमें मानवी प्रगति के लिए कोई प्रयोजन, संस्कृति की निरन्तर ऊर्ध्व गति का कोई अभिप्राय नहीं दिखाई देता। हमारे कई साहित्यिकों ने जैसे पहली शैली अपनाई थी, दूसरी शैली भी कम प्रमाण में नहीं अपनाई गई है। इस विचार-सरणि में सबसे बड़ा दोष यह है कि महापुरुषों या स्फोटक घटनाओं की संगति कैसे लगाई जाय?

इतिहास का एक तीसरा दर्शन भी है जो ऊपर के दोनों दर्शनों के ग्राह्यांश को ग्रहण करके, इतिहास और व्यक्ति-मानव या मानव-समूह के सम्बन्धों को अधिक वैज्ञानिक ढंग से देखने का यत्न करता है। अब इतिहास कोई महाकाल की तरह हौआ नहीं है, और न ही एक महासागर की तरह सदा हिलोरें मारने वाला, पर उसी सीमा की मर्यादा में रहने वाला पंचतत्त्व में से एक महाभूत-मात्र है। अब इतिहास मनुष्य-निर्मित, सुनिर्दिष्ट, दिशा-युक्त गति-विधि है। काल मनुष्य की चेतना की मर्यादा ही नहीं, चेतना-सापेक्ष तत्त्व है—बुद्धिगम्य और परिवर्तनक्षम। अँग्रेज़ी कवि आडेन ने जैसे कहा था :

'दि सैंड्स आफ टाइम
आर प्लास्टिसीन इन माइ हैंड !'

यानी काल-घटिका की रेती के कण क्षण-क्षण पर चुपचाप खिसकने वाले मनुष्य के वस के बाहर के निमिष-मात्र नहीं। परन्तु वह मेरे (मनुष्य के) हाथों से निरन्तर रूपाकार ग्रहण करने वाले 'प्लास्टिसीन' (मूर्ति बनाने की गीली मिट्टी की भाँति एक अर्द्ध-घन पदार्थ) की तरह हैं। यानी मनुष्य इतिहास का निर्माता भी है। यह नई भावना उन्नीसवीं सदी की औद्योगिक क्रान्ति के बाद सामने आई। और यह इतिहास बनाने वाले कोई गिने-चुने महापुरुष-मात्र ही नहीं, जमात-की-जमात, वर्ग-के-वर्ग, यूथ-के-यूथ भी इतिहास बना सकते हैं—यह नया तथ्य फ्रांसीसी, रूसी, चीनी और अन्य क्रान्तियों से उपलब्ध हुआ है। यह नया इतिहास-दर्शन इतिहास की गति को

द्वन्द्वात्मक मानता है, यानी यह प्राचीन के सर्वोत्तम का समाहार कर नित-नवीन की सृष्टि करता है। यह गति केवल चक्राकार या सर्पिल नहीं पर शंखाकार (स्पाइरल) है।

भारतीय इतिहास से उदाहरण

पहली इतिहास-दृष्टि के अनुसार भारत में वैदिक आर्यों का राज्य फिर से होगा, या जैसे सावरकर ने ११ मई १९५२ को पूना की एक सभा में 'अभिनव भारत-समाज' के उत्सव में कहा—"हमारे पूर्वजों ने जिस सिन्धु नदी के किनारे स्नान-सन्ध्या की, वह फिर से 'गंगे चैव गोदे चैव' हमारे अखण्ड भारत में मिलेगी और महाराष्ट्रवासियों ने भीमा नदी में जिन घोड़ों को पानी पिलाया उन्हें सिन्धु नदी में जाकर पानी पिलाया—वही यह कार्य फिर से करेंगे।" कोई भी विवेकी व्यक्ति सहज कहेगा कि यह कोरी कल्पना-मात्र है।

दूसरी इतिहास-दृष्टि के अनुसार गुप्त-मौर्य साम्राज्य उठे, गिरे; पठान-मुगल, रजपूत-मराठे-सिख-राज्य उठे, गिरे; अँग्रेजों का राज्य हुआ और वह भी नहीं रहा—यों हर साम्राज्य जो उठेगा अवश्य गिरेगा और इसलिए यह गर्व व्यर्थ है कि 'यूनानो-मिस्र-रूमा सब उठ गए जहाँ से!' और अब हम ही शेष हैं। इस तरह का चिन्तन हमें कहीं भी प्रगति में आस्था और विश्वास नहीं जगाता, उलटे हममें एक प्रकार से 'ततः किम्' वाली अकर्मण्यता जगाता है।

इसलिए तीसरी आकृति बहुत-कुछ सही है, यानी आज जो हम हैं, यानी भारतीय संस्कृति है, वह इतिहास के प्रभाव से कटी हुई नहीं है। इतिहास हमारे लिए केवल 'भूमियों' से भरा या खण्डित पाषाणों से भरा अजायबघर नहीं है। उससे हमें स्फूर्ति ग्रहण करनी है। मानव के बल-साहस और विक्रम तथा जीवन के प्रति दृढ़ निष्ठा का पाठ सीखना है, पर उसी में रम नहीं जाना है। उतना ही काफी नहीं है। पीछे देखना है इसलिए कि आगे भी बढ़ना है, वरना वह केवल पीछे देखना ही हो जायगा। प्रगति परा गति हो जायगी। वर्तमान को भूत से तोलना बेकार है। होंगे हमारे पुरखे बड़े शेरदिल, पीते होंगे वे मन-भर घी, पर उससे हमें क्या? सारा इतिहास निरी गपबाज़ी नहीं है, परन्तु वह आज के यथार्थ की तुलना में बहुत-कुछ कपोलकल्पित अवश्य लगता है। मनुष्य को इतिहास ने बनाया, उसी तरह मनुष्य भी इतिहास बनाता है और हर क्षण यह क्रिया चल रही है। यह नहीं कि स्वातन्त्र्य-युद्ध का जो कुछ इतिहास था वह १८५७ या १९०४ या १९१९-२० या '३० या '४२ में बनकर '४७ में आकर समाप्त हो गया। आगे कुछ होने ही वाला नहीं है, यह मानना भूल है। वह निरन्तर-विकसनशील, चिरन्तन गतिमान, सततोर्ध्वगामी प्रक्रिया है। इतिहास, यों किसी एक विभूति-विशेष या सन्-संवत्-विशेष की जागीर नहीं, उनकी तालिका-मात्र भी नहीं। विभूति-पूजकों को यह भी उदाहरण इतिहास में मिलेंगे कि कल की विभूतियाँ आज की 'विभूति' (राख)-मात्र हैं, तो कल के रज-कण आज के रत्न-कण बनते जा रहे हैं। रेडियम घूरे पर ही तो पाया था मदाम क्यूरी ने।

प्रा० गं० ब० ग्रामोपाध्ये ने अपने मराठी लेख 'ऐतिहासिक कादम्बरी : कांही विचार' (नवभारत, फरवरी १९४९) में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये हैं। उनके अनुसार—(१) ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना ऐसे काल में होती है जब समाज में गत इतिहास के लिए आदर और श्रद्धा होती है। (२) इतिहास में कल्पना और भावना का रंग मिला हुआ नहीं होता। उसका सत्य-दर्शन यथासम्भव वस्तुनिष्ठ होता है। परन्तु उपन्यास में सत्याभास-मात्र होता है।

(३) अतः ललित कृति में ऐतिहासिक सत्याभास का क्या अर्थ है ? उपन्यासकार उस समय की दन्तकथाएँ, जन-विश्वास आदि जानता है और उस काल के रम्याद्भुत वातावरण में डूब जाता है। इतिहास की घटनाओं के रूखे विवरण में वह नहीं पड़ता। (४) ऐतिहासिक उपन्यास में पात्र काल्पनिक होते हैं परन्तु प्रतिनिधि-रूप होते हैं। लेखक की कल्पना को भी इतिहास के बन्धन रहते हैं। (५) इस प्रकार से ऐतिहासिक यथार्थता एक भिन्न प्रकार की यथार्थता है। उसे यथार्थवादी रचनाओं की आलोचना की कसौटी से हम नहीं जाँच सकते। उसमें यथार्थवाद से अधिक अद्भुत रम्यतावाद ही होता है। इतिहास का यथार्थ आज के यथार्थ से अधिक रम्याद्भुत होता है। (६) इतिहास की मर्यादा कुछ दशकों तक या शतियों तक सीमित नहीं है। भारत का विभाजन और महात्माजी का निर्वाण आदि घटनाएँ ऐतिहासिक महत्त्व की हैं। उन पर आधारित ललित कृति भी ऐतिहासिक कहलायगी।

अब इस विचारधारा में दो-चार बातें बहुत विवाद्य हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना केवल ऐसे समय में नहीं होती कि जब समाज-मन में प्राचीन के प्रति बहुत अधिक श्रद्धा-भाव हो। इससे उल्टे कई बार यह एक सामाजिक ह्रासोन्मुखता का भी लक्षण माना गया है कि वर्तमान हत-बल और हत-वीर्य अवस्था में केवल प्राचीन की पूजा की जाय, अतीत की ओर मुड़ा जाय और पुनरुज्जीवन का नारा दिया जाय।

दूसरी विवाद्य बात यह है कि मानव की यथार्थता क्या एक ऐतिहासिक सत्य नहीं है, क्या वह एक प्रगतिशील तत्त्व नहीं है ? इतिहास की यथार्थता भिन्न है, और सामाजिक यथार्थता भिन्न है, ऐसा नहीं माना जा सकता। जो आज की यथार्थता है वह आगामी कल का इतिहास बनेगा। हमारी सामाजिक वास्तविकता के निर्माण में इस ऐतिहासिक तथ्य का बहुत बड़ा हाथ है। हमारा चिन्तन-मात्र देश-काल के इन निरन्तर बदलते हुए साँचों से बँधा है और इसी कारण वह स्वतन्त्र इस अर्थ में नहीं है कि वह एकदम समाज-विमुख या समाज-निरपेक्ष हो जाय।

तीसरी विचारणीय बात यह है कि ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक का दृष्टिकोण क्या हो ? क्या वह पुनरुज्जीवनवादी की भाँति केवल इतिहास में रम जाय, या वह वर्तमान और भविष्यत् का भी ध्यान रखे ? 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (इस युग के हिन्दी के श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास) की आलोचना में मैंने 'प्रतीक' में लिखा था, जिसका भाव यह था कि इस उपन्यास में यह डर है कि उस सामन्तकालीन मुमूर्षु संस्कृति के प्रति पाठक के मन में मोह न उत्पन्न हो जाय।

यह देखने के लिए कि भारतीय इतिहास के विभिन्न कालखण्डों पर हमारे उपन्यासकारों ने कहाँ तक क्या और कैसे लिखा है उनकी एक तालिका देना आवश्यक है। यहाँ मैं उन्हीं उपन्यासों की सूची दे रहा हूँ जो मैंने पढ़े हैं और जिनका नाम इस समय स्मृति से मुझे याद है। भारतीय इतिहास के कालखण्डों पर हिन्दी, मराठी, बँगला, गुजराती उपन्यासकारों की रचनाओं के नाम देकर बाद में उन भाषाओं में ऐतिहासिक उपन्यास के ऐतिहासिक क्रम-विकास का उल्लेख है :

प्राग् ऐतिहासिक युग तथा आदिम वैदिक युग—'संघर्ष', 'सबेरा, गर्जन' (भगवतशरण उपाध्याय) 'वोल्गा से गंगा' की आरम्भिक कहानियाँ (राहुल सांकृत्यायन), मुर्दों का टीला (रांगेय राघव); लोपामुद्रा (क० मा० मुन्शी)।

रामायण-महाभारत-पुराण-काल—महाकाव्य-खण्डकाव्य-जैसे आख्यान-काव्य और

चरित-प्रधान पद्य-रचनाएँ बहुत हैं, उपन्यास कम। कुछ नाटक भी मिलते हैं परन्तु उपन्यास प्रायः नहीं हैं। परशुराम (क० मा० मुन्शी), उत्तरा (एक पुराना मराठी उपन्यास) अपवाद हैं। वैसे महाभारत को 'उग्र' जी ने 'साहित्य-संदेश' के उपन्यास-अंक से पूर्व के अंक में विश्व का एक श्रेष्ठ उपन्यास कहा है। रांगेय राघव कृष्ण पर शायद लिख रहे हैं।

जैन-बौद्ध-प्रभाव के गुप्त-मौर्यादि युग—सम्राट् अशोक (वा० ना० शाह, मराठी से हिन्दी में अनूदित); शशांक, करुणा (राखालदास वन्द्योपाध्याय); बाणभट्ट की आत्मकथा (हजारीप्रसाद द्विवेदी); दिव्या (यशपाल); जय यौधेय, सिंह सेनापति (राहुल सांकृत्यायन); समुद्रगुप्त (मिश्रबन्धु); चित्रलेखा (भगवतीचरण वर्मा); वैशाली की नगर वधू (चतुरसेन शास्त्री); अम्बपाली (भटनागर) (अन्तिम तीन उपन्यास इतिहास से अधिक उस काल के वातावरण पर आश्रित हैं।)

मध्य-युग और मुस्लिम राज्यकाल—पाटणनी प्रभुता, गुजरातनो नाथ, कालवाघेरना, पृथ्वीवल्लभ (क० मा० मुन्शी); कलंकविष, गड आला पण सिंह गेला (ह० ना० आप्टे); देवी चौधुरानी, आनन्द मठ, दुर्गेशनन्दिनी (बंकिमचन्द्र); नाथ माधव की कादम्बरीमय शिवशाही और पेशवाई की बीस नाविलें (वि० वा० हड़प); अकबराचे वेद साधन (मराठी); प्रभावती (निराला); जेबुन्निसा; बेगमात के आँसू ; मुगल-दरबार-रहस्य; वीर छत्रसाल; रानी सारन्धा और हरदौल (दीर्घ कथाएँ); चित्तौड़ की पद्मिनी; महाराणा प्रताप; शिवाजी आदि। (इनमें से अधिकांश ड्यूमा, स्काट रेनाल्ड्स से प्रभावित उपन्यास रहस्य और रोमांच के प्रेमियों की रुचि के ऐयारी-तिलिस्मी उपन्यासों की कोटि के, या विभूतिपूजक उपदेशपूर्ण उपन्यासों के ढंग पर हैं)। वृन्दावनलाल जी के उपन्यास गढ़-कुण्ढार, मृगनयनी, अचल मेरा कोई, कचनार इसी युग के सम्बन्ध में हैं।

अंग्रेज़ी राज्यकाल और वर्तमान काल—झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई (वृन्दावन-लाल वर्मा); चन्द्रशेखर, (बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय); पथ के दावेदार (शरत्-चन्द्र); 'दि कन्फेशन्स आफ ए ठग'; शृङ्गेरी-मठ (गोआ में पुर्तगाली अत्याचारों पर मराठी उपन्यास); काला पानी (सावरकर); कंठपुर (राजाराव का गांधीजी के असहयोग आन्दोलन पर अंग्रेजी उपन्यास); मुल्कराज आनन्द के तीन अंग्रेजी उपन्यास स्वाधीनता-आन्दोलन के विषय में; जीने के लिए (राहुल जी का महायुद्ध पर जाकर लौटने वाले सिपाही पर उपन्यास); इन्दुमती (सेठ गोविन्ददास का कांग्रेस के इतिहास पर उपन्यास); वैसे चार अध्याय, सुनीता, शेखर, टेढ़े-मेढ़े रास्ते में भी आतंकवादी आंदोलन का एक चित्र है, पर वह एकांगी है; राष्ट्रीय आन्दोलन पर साने गुरूजी के दो उपन्यास; सन् '४२ के आन्दोलन पर मराठी में ४ (प्रभद्वरा, शाकुन्तल; अमावस्या, क्रान्तिकाल); हिन्दी में देशद्रोही (यशपाल); पैरोल पर (व्रजेन्द्रनाथ गौड़) आदि और बंगाल

के अकाल पर मन्वन्तर (ताराशंकर वन्द्योपाध्याय), महाकाल (अमृतलाल नागर) और नोआखाली के दंगे पर खुद वहाँ घूमकर लिखा हुआ मराठी उपन्यास 'सुनीता' (बिवलकर) बहुत अच्छे हैं। 'पूर्वेकडील कालोख' (हड़प की जापान-विरोधी युद्धकालीन कथा मराठी में है) और भारतीय भाषाओं में शायद विदेशों के ऐतिहासिक प्रसंगों पर बहुत कम मौलिक लिखा गया है। वैसे राहुल जी का 'मधुर स्वप्न' अपवाद है।

ऊपर दी हुई तालिका किसी भी प्रकार से सम्पूर्ण या यथाक्रम नहीं है। जैसे नाम याद आते गए, मैं लिखता गया हूँ। इसमें बहुत से लेखक या उनके ग्रन्थों के नाम छूट गए हों, यह हो सकता है।

अब मैं एक-एक करके भाषाओं में ऐतिहासिक उपन्यास का क्या क्रम रहा है उसकी प्रवृत्तियों का संक्षिप्त इतिहास देता हूँ।

अंग्रेजी तथा अन्य यूरोपीय भाषाएँ—

अंग्रेजी में उपन्यास बहुत बाद में शुरू हुए। उनसे पहले गद्य में निबन्ध विकसित थे। स्वाभाविक था कि आरम्भिक उपन्यासों पर भी निबन्ध की छाया गहरी हो। फिर भी फ्रांसीसी उपन्यासों के प्रभाव में घटना-बहुल ऐतिहासिक उपन्यास अधिक लिखे जाते थे, जैसे वाल्टर स्काट के उपन्यास या फ्रान्स में ड्यूमा के उपन्यास। इन उपन्यासों का अच्छा मखौल ई० एम० फार्स्टर ने अपने 'आस्पेक्ट्स आफ दि नावेल' में उड़ाया है। ह्यू वालपोल ने भी 'इंग्लिश नावल्स एण्ड नावलिस्ट्स' में इन्हें उच्च कोटि के उपन्यास नहीं कहा है। बल्कि बाद के बहुत से भीत्योत्पादक वीभत्स-रौद्र रस वाले उपन्यासों का जनक इन्हीं उपन्यासों को माना है। माना कि कुतूहल-वृद्धि इन उपन्यासों में बराबर होती रहती है, परन्तु वह आधुनिक जासूसी उपन्यासों की भाँति क्षणिक प्रभाव मन पर डालती है।

इनसे अधिक स्थायी प्रभाव डालने वाले ऐतिहासिक उपन्यास चरित्र-प्रधान हैं जैसे ताल्स्ताय का 'वार एण्ड पीस' या डिकेन्स या विक्तर ह्यूगो या अत्याधुनिक अलेक्सी ताल्स्त्वा के उपन्यास। इनमें इतिहास के जिस कालखण्ड का चित्रण है वह बहुत ईमानदारी और बारीकी के साथ किया गया है। आधुनिक अँग्रेजी लेखक राफाएल सावाटानी ने भी इसी प्रकार के ऐतिहासिक रोमान्स पुनरुज्जीवित करने का यत्न किया है। परन्तु इन उपन्यासों में सोवियत उपन्यास-लेखकों-जैसा दिशा-विशेष का आग्रह (टेंडेन्शसनेस) नहीं दिखाई देता। अलेक्सी ताल्स्त्वा का उद्देश्य यद्यपि आयवन दी टेरीबल के काल पर लिखना रहा है फिर भी उसमें युद्धकालीन सोवियत उपन्यासों की भाँति, घृणा का संगठित प्रचार, नहीं, यद्यपि विभूति-पूजा अधिक मात्रा में है। शोलोखोव के 'दौन्' नदी-विषयक उपन्यास उल्लेखनीय हैं।

चाहे इस कारण से हो कि यूरोप-निवासी विशेष पुराण-पूजक नहीं या अन्य किसी कारण से, उन्होंने अपने देश के प्राचीन गौरव पर कम उपन्यास लिखे हैं—'पाम्पुआई के अंतिम दिन' या 'नार्मन-विजय' या डिजरायली के दो-तीन उपन्यासों की भाँति वे किसी घटना-विशेष से प्रभावित अधिक हैं। अधिकांश पश्चिमी उपन्यास सामाजिक अधिक हैं, ऐतिहासिक कम।

बंगाली—

बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, राखालदास वन्द्योपाध्याय और अन्य उपन्यासकारों के जो अनुवाद

पढ़े हैं उनसे जान पड़ता है कि बंगाली स्वभाव की भावुकता और काव्यात्मकता इन उपन्यासों को अत्यन्त रोचक बनाने में सहायक रही हैं। उनमें रोमान्स का भाग अधिक है, यथार्थ का कम, फिर भी उनकी कल्पना और इतिहास के यथार्थ में सहज सम्मिलन जान पड़ता है। जैसे दूध और मिसरी। मुझे याद आता है कि रवीन्द्रनाथ के 'साहित्य' निबन्ध-संग्रह में 'ऐतिहासिक उपन्यास' पर एक परिच्छेद है, जिसमें इस प्रकार के लेखन में काव्यमयता का समर्थन करते हुए कवि-गुरु ने लिखा है कि इस प्रकार के लेखन में लेखक को अपने-आपको भुलाकर उस काल में प्रक्षेपित करना होता है, और उस काल के भग्न प्राचीर-खण्डों और पाषाण-स्तम्भों को लेकर पुनः नव्य-स्थापत्य निर्माण करना होता है। वाल्टर बैगेहोट नामक अँग्रेज समालोचक ने ऐतिहासिक उपन्यास की तुलना बहते हुए जल-प्रवाह में पड़ी हुई प्राचीन दुर्ग-मीनार की छाया से की है। पानी नया है, नित्य परिवर्तनशील है, परन्तु मीनार पुरानी है, अपने स्थान पर स्थित है। ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक की भी यही समस्या है कि उसके पैर तो इस जमीन पर हैं। वह साँस इस युग और निमिष में ले रहा है, परन्तु उसका स्वप्न पुरातन है, और फिर भी नवीन है। एक ही ऐतिहासिक विषय पर विभिन्न युग के लेखक इसी कारण से विभिन्न प्रकार से लिखेंगे। रवीन्द्र-शरत्‌चन्द्र-ताराशंकर-माणिक वन्द्योपाध्याय की परम्परा में बहुत कम लोगों ने ऐतिहासिक कथानक चुने। वैसे डी०-एल० राय, मन्मथ राय आदि ने ऐतिहासिक नाटक अवश्य बहुत से लिखे हैं। वह भिन्न विषय है।

मराठी—

मैंने सर्वाधिक ऐतिहासिक उपन्यास अपनी मातृभाषा में पढ़े हैं। हरिनारायण आप्टे, नाथमाधव, वि०वा०हड़प, चिं०वि० वैद्य, वि०वा० भिड़े और अन्य कई लेखकों के सैकड़ों उपन्यास मुझे याद आ रहे हैं। उनमें अधिकांश शिवकाल-सम्बन्धी हैं। वैसे कोरसईचा किल्लेदार और 'रूपनगच्च राजकन्या' और 'लाल वैरागीण' और 'अल्ला हो अकबर' और 'काला पहाड़' और 'पिवका बागुलछोवा' और 'नीरूदेवी' और न जाने कौन-कौन से बचपन में पढ़े हुए आख्यान याद आ रहे हैं। परन्तु अधिकतर उपन्यास रोमान्स और ऐयारी-तिलिस्मी प्रभाव वाले ही अधिक थे। किसी ने सचेतन रूप से इतिहास का अध्ययन उपन्यास में ढाला हो ऐसा नहीं जान पड़ता। इतिहास-संशोधकों की एक गौरवशाली पीढ़ी महाराष्ट्र में हो गई—राजवाड़े, खहे, पारसनीस, भांडारकर आदि। और उसी परम्परा में रियासतकार सरदेसाई, दत्तोवामन पोतदार, न० र० फाटक, वेन्द्रे, भ० खु० देशपांडे और अन्य कई व्यक्ति कार्य कर रहे हैं। परन्तु इनके परिश्रम और अध्यवसाय को उपन्यास का आवरण बहुत कम लोगों ने पहनाया। उपन्यासकार सामाजिक समस्याओं से ही उलझते रहे। खांडेकर, माडखोल्कर, पु० भ० देशपांडे, बोकील, करेरकर, शिखाडकर, वारेकर, बिवलकर, मालतीबाई बेडेकर गीता सारे आदि की सब कृतियाँ सामाजिक हैं। परन्तु ना०सी० फड़के ने एक-दो ऐतिहासिक उपन्यास आरम्भ में लिखे थे। और सब तो केवल हरिनारायण आप्टे का नाम लेते हैं और उसके बाद वह सोता भी उसी तरह सूख गया जैसे बंगाल में राखाल वन्द्योपाध्याय के बाद। इसका प्रधान कारण हमारे उपन्यास पर पश्चिम के उपन्यास का पड़ा हुआ प्रभाव है। आधुनिक उपन्यासकार इतिहास की अपेक्षा अनतिदूर वर्तमान से प्रेरणा अधिक लेता है, ऐसा जान पड़ता है। वह अध्ययन से भी कतराता जान पड़ता है और उसकी बहुप्रसवा लेखनी त्वरा से अधिक काम लेती है।

गुजराती—

'सरस्वतीचन्द्र' को वैसे ऐतिहासिक उपन्यास एक दृष्टि से कह सकते हैं, परन्तु प्रधान नाम इस दिशा में कन्हैयालाल मुन्शी का है। उन्होंने अपने आत्मचरित में स्पष्ट लिखा ही है कि वे ड्यूमा के उपन्यासों से बचपन में बहुत प्रभावित रहे हैं। अतः उनके सभी उपन्यासों में पात्रों की, घटनाओं की, चरित्रों की पुनरावृत्ति-सी जान पड़ती है। इतिहास की पृष्ठभूमि मानो एक परदा है जो पीछे से हटा लिया जाता है और वही प्रणय, वीरता, आदि भावनाओं का संग्राम बराबर चलता रहता है। फिर भी मुझे उनकी काल'बावेलो' कृति अनन्य लगती है। 'पृथ्वी-वल्लभ' भी भली प्रकार से एक श्रेष्ठ उपन्यास है, जिसमें नाटकीय गुण प्रधान हैं। परन्तु 'राजाधिराज' 'जय सोमनाथ' आदि उनकी इधर की कृतियों में स्पष्ट पुनरुज्जीवनवादी (रिवाइवलिस्ट) स्वर है। उन्होंने सोमनाथ की भूमिका में स्वयं लिखा है—"यह शैली का अन्तर २५ और ५२ वर्ष के पुरुष के विचारों का अन्तर है।" वह उपन्यास-रस की उतनी ही हानि करता है जितना राहुलजी के ऐतिहासिक उपन्यासों में साम्यवादी प्रचार का अप्रच्छन्न आरोपित यत्न। यह बात मैंने 'सिंह सेनापति' की 'विशाल भारत' में आलोचना करते हुए लिखी थी। स्व० मेघाणी के 'सोरठ तारा वहेता पाणी'-जैसे उपन्यास अधिक बलवान् और कलापूर्ण जान पड़ते हैं।

हिन्दी—

हिन्दी में अन्य भारतीय भाषाओं की तुलना में उपन्यास बहुत बाद में शुरू हुए और संख्या में भी कम हैं। उनमें भी सामाजिक अधिक हैं। ऐतिहासिक उपन्यास आरम्भ में तो अनूदित ही अधिक मिलते हैं। बंगाली से बंकिम के, राखाल बन्द्योपाध्याय के, मराठी से हरिनारायण आप्टे या बालचंद नेमचंद शाह के। मौलिक ऐतिहासिक उपन्यास लिखने का यत्न न प्रेमचंद ने किया न 'प्रसाद' ने, न उनके पूर्ववर्ती देवकीनन्दन खत्री या गोपालराम गहमरी ने। 'निराला' जी की 'प्रभावती' वैसे एक अपवाद है। पं० शुकदेवबिहारी मिश्र ने भी गुप्त काल पर एक उपन्यास लिखा है, परन्तु उसे सफल उपन्यास नहीं कहा जा सकता। साहित्य के इतिहास में संस्मरणीय ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक केवल चार-पाँच ही हैं और वे हैं : राहुल सांकृत्यायन; भगवतशरण उपाध्याय (जिनकी उपन्यास से अधिक बड़ी कहानियाँ हैं); हजारीप्रसाद द्विवेदी; यशपाल; रांगेय राघव; चतुरसेन शास्त्री; और इन सबमें गुण और परिमाण दोनों दृष्टियों से सर्वाधिक और अच्छा लिखने वाले श्री वृन्दावनलाल वर्मा। 'कचनार' की आलोचना दिल्ली रेडियो से मार्च १६४८ में करते हुए कहा गया था कि वर्माजी जनतंत्र के युग के उपन्यासकार हैं। उनकी भाषा-शैली जैसी सादी और प्रवहमान है उनकी विषय-वस्तु का आदर्श भी वैसा ही सहज और प्राकृत है। यह उनके व्यक्तित्व की विशेषता है; यही उनकी कृति की भी विशेषता है। उनकी रचनाओं में हजारीप्रसाद जी का वाग्वैदग्ध्य या यशपाल या राहुलजी का सोद्देश्य मत-प्रचार नहीं मिलता, इतिहास के प्रति निर्भय प्रामाणिकता का भगवतशरण या रांगेय राघव का सा आग्रह भी नहीं मिलता, तो भी उनकी सबसे अच्छी विशेषता यह है कि वे अपनी भूमि के निकट का ही विषय चुनते हैं, उससे बाहर नहीं जाते। बहुत कम लेखकों में अपनी मर्यादा का इतना अच्छा भान होगा। हिन्दी के लिए विशाल ऐतिहासिक क्षेत्र खुला पड़ा है—मध्यभारत-राजस्थान की गाथाएँ, बिहार, मध्य-प्रदेश, उत्तर प्रदेश के प्राचीन आख्यान कोई नये लेखक छूते ही नहीं, इसका आश्चर्य है। प्रेम के सस्ते त्रिकोण से त्राण मिले तब न? अब हिन्दी के एक ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक वृन्दावन-

लाल वर्मा को उदाहरण के तौर पर ले लें और गुण-दोष-विवेचना करें तो मेरी अल्प मति में वर्मा जी के ऐतिहासिक उपन्यासों के निम्न गुण हैं—

(१) अपनी विषय-वस्तु का गहरा और सन्निकट परिचय, अध्ययन और गवेषणा।

(२) जनतांत्रिक दृष्टि। पात्रों को कहीं भी अतिमानुष नहीं होने दिया जाता, न सर्व-साधारण पाठकों का ध्यान ही भुलाया जाता है।

(३) उपन्यास की रोचकता के लिए आवश्यक कुतूहल बनाए रखने वाली घटनाओं का गुम्फन।

(४) भाषा-शैली में प्रादेशिक रंग।

(५) चरित्र-चित्रण में पात्रों के परस्पर-सम्बन्धों का ध्यान और निर्वाह।

(६) प्राकृतिक वर्णनों तथा युद्धादि घटनाओं के वर्णनों में कहीं भी अनावश्यक विस्तार की कमी।

(७) देश की उठती हुई स्वाधीनता की चेतना का ध्यान। यानी परम्परा को पीटने या प्राचीन को उत्तम कहने का मोह टालते हुए भविष्य की ओर भी स्फूर्तिदायिक इंगित।

(८) किसी भी रस के चित्रण में (उदाहरणार्थ शृङ्गार, करुणा या वीर) अतिरेक की ओर झुकाव नहीं। भड़कीले रंगों की अपेक्षा सौम्य रंगों का अधिक उपयोग।

(९) चरित्रों की रेखाएँ दृढ़ और स्पष्ट, कभी-कभी बहुत स्थूल भी। जिससे प्रत्येक पात्र की विशेषता, दूसरे से भिन्नता स्पष्ट हो जाती है। 'मृगनयनी' में यही विशेषता है।

(१०) पूरा उपन्यास पढ़ जाने के बाद उस काल के वातावरण का सजीव पुनर्निर्माण सफल जान पड़ता है जैसे 'गढ़कुण्डार' या 'लक्ष्मीबाई' में।

इनके कुछ सामान्य दोष यह हैं:

१. काव्यात्मकता की कमी। वर्णन-शैली के अधिक 'इतिवृत्तात्मक' होने से रस-भंग।

२. संवाद में नाटकीयता अधिक होने से कहीं-कहीं कृत्रिमता।

३. पात्रों के मन के अन्दर स्वयं उपन्यास-लेखक पैठता जान पड़ता है। उन पात्रों के व्यवहार या आचार से उनके मनोविकार अधिक व्यक्त नहीं होते।

४. तीन-चार उपन्यास पढ़ लेने पर जान पड़ता है कि काफी जल्दी में वे लिखे गए हैं। कुछ पुनर्संपादन से वे अधिक सँवरे-से जान पड़ते।

५. इतिहास के साथ कहाँ तक स्वतन्त्रता ली जानी चाहिए यह एक विवादास्पद विषय हो सकता है। परन्तु कहीं-कहीं ऐसा लगता है कि वह ली गई है और उपन्यास में सहज रोचकता लाने मात्र के लिए।

इस कारण से वृन्दावनलाल जी की रचनाओं से जो आशाएँ हमारे मन में जगती हैं वे इस प्रकार से हैं—किसी भी उपन्यासकार के लिए कोई दण्डक (या नियम) बना देना उचित नहीं। वह अपने संस्कार, शिक्षण, आदर्श और विचारों के अनुसार ही इतिहास को देखेगा और उसका कलात्मक पुनर्मूल्यांकन करेगा। फिर भी चूँकि वृन्दावनलालजी बुन्देलखण्ड की माटी की सौंधी पौध पहचानते हैं, हमारा आग्रह है कि 'मुसाहिबजू' की भाँति पिछले ३० वर्षों में बुन्देलखण्ड में जो सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक परिवर्तन हुए हैं उन्हें बेतवा के मुँह से सुनवाएँ। 'झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई' की भाँति वे एक दूसरा बड़ा उपन्यास इन गए तीस वर्षों के गाँव-

शहरों में बुन्देलों की दो-तीन पीढ़ियों में हुए परिवर्तनों पर लिखेंगे तो हिन्दी को ही नहीं विश्व-साहित्य को एक अमर यथार्थवादी कृति की भेंट मिलेगी। उसमें वे जितनी प्रादेशिकता ला सकें लाएँ। मराठी में दो-तीन कोंकन के किसान जीवन पर लिखे उपन्यासों के पीछे नोट दिये गए हैं, शब्दों-मुहावरों के अर्थों और स्थान-नाम, रीति-रिवाजों पर वैसी ही चीज इसमें हो।

ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक की शैली

ऐतिहासिक उपन्यास की विषय-वस्तु का विचार ऊपर बहुत किया जा चुका। अब उसके कलेवर यानी शैली को ध्यान में लें तो यह पता चलेगा कि विषय-वस्तु से शैली अवश्य निर्णीत होगी। कहीं-कहीं उपन्यास-लेखक को छूट है कि वह आचार-शास्त्रीय या दार्शनिक चर्चा में उलझे, परन्तु वह इस सीमा तक नहीं जैसे आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने अपने उपन्यास 'वैशाली की नगर-वधू' में अन्त में 'भूमि' में पृष्ठ ७६३ पर कहा है—"वास्तव में ऐतिहासिक काव्यों, उपन्यासों और कहानियों का इतिहास की सीमा तक उल्लंघन करने के कारण इतिहास-कुल से विच्छेद कर दिया गया है। यह केवल भारतीय साहित्य की ही बात नहीं है, पाश्चात्य साहित्य में भी ऐसा हुआ है। इतिहास के 'विशेष सत्य' और साहित्य के भी 'चिर सत्य' के सिद्धान्तों पर हम थोड़ा विचार करेंगे। 'चिर सत्य' ऐसे साहित्य का प्राण है।······ इतिहास की विशिष्ट सत्य घटनाओं का उसे पूरा ज्ञान नहीं होता। होने पर भी वह जान-बूझकर उनकी उपेक्षा कर सकता है, क्योंकि उसका काम तात्कालिक घटनाओं की सूची देना नहीं, तात्कालिक समाज-प्रवाह का वेग दिखाना होता है।" यह कथन कितना भ्रांतिपूर्ण है यह कहना आवश्यक नहीं है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री एक 'इतिहास-रस' की सृष्टि करके वेश्याओं का इतिहास पृ० ८५३ से ८५६ तक देते हैं और अपने उपन्यास की भाषा-शैली के बारे में पृ० ८६३-६४ पर कहते हैं—"उपन्यास में लगभग दो सहस्र नये पारिभाषिक शब्द आए हैं। जिनका प्रचलन चिर-काल से भाषा-प्रवाह में समाप्त हो गया है।···भाषा और भाव, सब मिलाकर प्रस्तुत उपन्यास सर्वसाधारण के पढ़ने योग्य नहीं है। परन्तु हिन्दी भाषा और भारतीय संस्कृति से परिचित होने के लिए यह उपन्यास प्रत्येक शिक्षित भारतीय को दस-बीस बार पढ़ना चाहिए। खासकर उच्च सरकारी अफसर, जो अंग्रेजी, भाषा के पण्डित और अंग्रेजी सभ्यता के अधीन हैं··, अपनी टेबुल पर इस उपन्यास को अनिवार्य रूप में डाल रखें और निरन्तर इसे पढ़ते रहें तो उन्हें मौलिक भारतीय विचारधारा अपने रक्त में प्रवाहित करने में बहुत सहायता मिलेगी। उचित तो यह है कि भारतीय सरकार ही यह आदेश जारी कर दे और उपन्यास की एक-एक प्रति अपने अफसरों की टेबुल पर रख देने की व्यवस्था कर दे।" संक्षेप में, ऐतिहासिक उपन्यास क्या नहीं होना चाहिए इसका परम उदाहरण यह ७८७ पृष्ठों का 'बुद्ध-कालीन इतिहास-रस का मौलिक उपन्यास' (जो सन् १६४६ में छपा है) है। १६२२ के 'शशांक' से अभी तक हम क्या आगे नहीं बढ़ पाये हैं?

बौद्धकाल पर और गुप्त मौर्यकाल पर कितने उतम उपन्यास लिखे गए हैं इनका उदाहरण देखना हो तो राखालदास वन्द्योपाध्याय के 'शशांक' उपन्यास को देखिए, जिसे रामचन्द्र शुक्ल ने अनूदित किया था, १६२२ में। यद्यपि रामचन्द्र शुक्ल ने मूल लेखक की कृति को अन्त में बदल दिया है, फिर भी मूल का आनन्द इस उपन्यास में सुरक्षित है। उदाहरण कहाँ तक दें। पृ० २१४-२१५ पर ऋतु-वर्णन देखिए:

"वर्षा के अन्त में गंगा बढ़कर करारों से जा लगी है। नावों का बेड़ा तैयार हो चुका है। नौसेना सुशिक्षित हो चुकी है। हेमन्त लगते ही बंग देश पर चढ़ाई होगी। सामान्य सैनिक से लेकर यशोधवल तक उत्सुक होकर जाड़े का आसरा देख रहे थे। वर्षाकाल में तो सारा बंग-देश जल में डूबकर महा समुद्र हो जाता था, शरद् ऋतु में जल के हट जाने पर सारी भूमि कीचड़ और दलदल से ढकी रहती थी। इससे हेमन्त के पहले युद्ध के लिए उस ओर की यात्रा नहीं हो सकती थी।"

और पृ०३६७ पर जन साधारण की उत्सवप्रियता का यह सरल संक्षिप्त वर्णन—"पाटलीपुत्र में आज बड़ी चहल-पहल है। तोरण-तोरण पर मंगलवाद्य बज रहे हैं। राजपथ रंग-बिरंग की पताकाओं और फूल-पत्तों से सजाया गया है। दल-के-दल नागरिक रंग-बिरंगे और विचित्र-विचित्र वस्त्र पहने ढोल, झाँझ आदि बजाते और गाते निकल रहे हैं। पहर-पहर-भर पर नगर में तुमुल शंखध्वनि हो रही है। धूप के सुगन्धित धुएँ से छाए हुए मन्दिरों में से नगाड़ों और घण्टों की ध्वनि आ रही है। आज सम्राट् माधवगुप्त का विवाह है।"

'शशांक' या 'करुणा में लेखक अवान्तर वादविवाद या उपदेशों में नहीं उलझता।

'निराला' की प्रभावती में पृ० ६३ पर लेखक बीच में ही अपने स्वाभाविक आवेश से कह उठता है—"हाय रे देश! कितने फूल इस प्रकार सामयिक प्रवाह में चढ़कर दृष्टि से दूर अँधेरे में बहते हुए अदृश्य हो गए, पर किसी ने तत्त्व-रूप को न देखा; सब बाहरी चहल-पहल में भूले रहे—इतिहासवेत्ताओं के सत्य के भुलावे में आश्वस्त। यह अँधेरा चिरन्तन है।...देश अँधेरे में है, प्रकाश नहीं दीख पाता..." इत्यादि। इसे आरम्भिक 'निवेदन' में निरालाजी ने 'रोमाण्टिक उपन्यास' कहा है और "अभी उस रोज भी डाक्टर रामविलास के लेख में इसके उद्धरण आये हैं। भाषा और भाव की दृष्टि से पुस्तक मध्यम या उच्च कक्षाओं में रखने योग्य है। यदि अधिकारी ध्यान दें तो हिन्दी के साथ सहयोग और सराहनीय..." लिखा है। यह सफल ऐतिहासिक उपन्यास नहीं है।

राहुलजी की रचनाओं में भी 'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय' अधिक सफल ऐतिहासिक कृतियाँ थीं। 'मधुर स्वप्न' में तो कई स्थल अवान्तर चर्चा से भर गए हैं। यथा पृ० ५१ पर का यह उद्धरण देखिए :

"अबकी सियाबख्श ने हठात् पूछ दिया—अर्थात् जिस प्रकार हमारे यहाँ एक पुरुष की बहुत सी पत्नियाँ होती हैं, वहाँ इससे उलटा होता है।

मज्दक—इसमें क्या आश्चर्य है? देश-काल-भेद से हर जगह के सदाचारों में भेद होता है। एक जगह जो बात निषिद्ध है, वही दूसरी जगह विहित।

कवात्—क्या स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध में यह शिक्षा हिन्दी-ऋषि बुद्ध ने भी दी थी।

मित्रवर्मा—नहीं, बुद्ध ने तो उच्च श्रेणी के शिष्यों के लिए स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध निषिद्ध कर दिया था। इसलिए उनके उच्च श्रेणी के अनुयायी स्त्री-पुरुष अविवाहित रहते हैं।

मज्दक—मानी ने भी अपने उच्च अनुयायियों को परिवार और पत्नी से असंग रहने का उपदेश दिया था। यवन-विचारक प्लातोन ने बतलाया कि महान्

उद्देश्य को लेकर चलने वाले नर-नारियों को सम्पत्ति से ही मेरा-तेरा का सम्बन्ध नहीं हटाना होगा, बल्कि उनके लिए स्त्री में मेरा-तेरा का भाव होना भी हानिकारक है, क्योंकि स्त्री में केन्द्रित वह मेरा-तेरा का भाव फिर पुत्र-पुत्रियों में केन्द्रित हो जायगा, फिर उनकी सन्तानों में। मेरा-तेरा के लिए संसार में लोग क्या नहीं करते ? जगत्-कल्याण के लिए आदमी अपनी शक्ति को तभी पूरी तरह लगा सकता है, जबकि उसके पास अपनी सन्तान न हो।

कवात्—तो क्या प्लातोन ने भी साधु-साधुनी बन जाने का उपदेश दिया था ?

मज्दक—नहीं, प्लातोन व्यावहारिक विचारक था। उसने सोचा कि इन्द्रियों पर पूरी तरह से संयम विरले ही कर सकते हैं, इसलिए उसने स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध का विरोध नहीं किया, किन्तु उसने यह अवश्य बतलाया कि उच्च जीवन और आदर्श के अनुयायियों को अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है, कि उनका स्त्री-पुरुष के तौर पर पारस्परिक सम्बन्ध भी मेरा-तेरा के भाव से मुक्त हो।

मित्रवर्मा—है यह बड़ा ही लोक-विद्रोहकारी आचार-विचार, किन्तु जनता के पथ-प्रदर्शकों के लिए जन-मंगल की भावना से प्रेरित परम त्यागियों के लिए यही एक व्यवहार-पथ दिखलाई पड़ता है। मैं समझता हूँ, लोकरूढ़ि से विरुद्ध मार्ग पर चलने के लिए अयरान में इस पर जोर न दिया जाता, यदि वहाँ पहले से ही भगिनी-विवाह, पुत्री-विवाह, मातृ-विवाह-जैसी प्रथाएँ प्रचलित न होतीं। लेकिन यह तो ऐसी चीज है, जिस पर अन्दर्जगर का बहुत जोर नहीं है। वह इसको अप्रतिषिद्ध-भर मानते हैं, जीवन का लक्ष्य नहीं मानते।

मज्दक—मानव की प्रवृत्तियों को नीचे जाने से बचाना और उसकी सारी शक्ति को नवीन संसार के निर्माण में लगाना, यही हमारा उद्देश्य है। अकामेनू की पराजय के बाद अब समय आ गया है कि हम नये संसार की दृढ़ नींव रखें। भीषण अकाल के बाद आज जनता सारे अयरान में भूख के कष्ट से मुक्त हो जल्दी-जल्दी अपने दोषों को छोड़ती जा रही है। आज उसकी भावना में जो भारी परिवर्तन देखा जा रहा है, क्या वह इसका प्रमाण नहीं है कि नये युग का आरम्भ हो गया है ? आज मनुष्य से पूछा जा रहा है कि विजयी अहुर्मज्द के पथ पर कौन आना चाहता है।"

इस प्रकार से ऐतिहासिक उपन्यास की शैली में हिन्दी ने कोई विशेष प्रगति नहीं की है। इस विषय में अभी बहुत-सा कार्य करने को शेष है—संशोधकों को, औपन्यासिकों को और समीक्षकों को भी। ऐतिहासिक उपन्यास की समीक्षा में कौन से मानदण्ड हों, यह भी एक विचारणीय विषय है, जिसके संकेत ऊपर आरम्भिक चर्चा में हमने दिये हैं।

३

ठाकुरप्रसाद सिंह

हिन्दी कहानी

: १ :

हिन्दी-कहानी यद्यपि प्राचीन कहानियों तथा पाश्चात्य शैली के निकट समान भाव से आभारी है, किन्तु इतना सब लौटा देने के पश्चात् भी उसके पास जो बच रहता है उससे उसकी मौलिक विकास-परम्परा का पूर्ण आभास पाने में सम्भवतः कठिनाई नहीं पड़ेगी। हिन्दी-कहानी एक ओर भारतीय-चिन्तन की एक नई मनःस्थिति का प्रतिफलन होकर भी पिछले सम्पूर्ण वर्णन, मनोविश्लेषण, उद्देश्य तथा वस्तु-योजना की शृङ्खला में एक बिलकुल नई कड़ी है; उसी तरह जैसे भारतेन्दु-युग तथा परवर्ती साहित्य अपने नवीन विश्वासों के साथ साहित्य का एक नवीन विकास है। 'आदम' की एक अस्थि लेकर 'ईव' का निर्माण सम्भव हो सकता है, पर आधुनिक कहानी इस दिशा में इतनी विशाल परम्परा की उत्तराधिकारी होकर भी अपने पैरों पर खड़ी होने का दावा कर सकती है। उसमें कहीं भी प्राचीन बृहत्कथाओं की अस्थियाँ नहीं लगी हैं और न तो रुके हुए इतिहास की छाया में पली छुईमुई का मादक संकोच तक आलंकारिक बिलमाव ही उसे मिला है। उपदेश के निष्कर्ष का आग्रह भी उसे वहाँ से नहीं मिला है। भव्यता के लिए भी वह नरवाहनदत्त की ड्योढ़ी पर नहीं गई है। दूसरी ओर पाश्चात्य परम्परा से एक सीमा तक रूपविधान की छाया पाकर भी वह अनूदित ही नहीं रही है। व्यक्तित्व-प्रधान निबन्धों तथा कहानियों को अपनी अभिव्यंजना का माध्यम बनाने वाले भारतेन्दु-युग के कलाकार अपनी शक्ति से अधिक सजग थे; उनके पास निज का कहने को इतना था कि पश्चिम की वस्तु की ओर देखने की फ़ुरसत ही उनको नहीं थी।

प्रारम्भिक रचनाओं में यद्यपि विजातीय प्रभाव स्पष्ट देखे जा सकते हैं, किन्तु शीघ्र ही एक सर्वथा नई पद्धति का विकास हो जाता है। शुरू में एक साथ ही संस्कृत महाकाव्यों की वर्णन-परम्परा, उर्दू का चुलबुलापन तथा बृहत् कथानकों की ढीली विलम्बित शैली देखने को मिलती है—ठीक वैसे ही जैसे उस पीढ़ी का आदमी अपने रहन-सहन, वेशभूषा तथा मानसिक रुझान में एक अजीब सम्मिश्रण था—मन उसका अभी भी पीछे दौड़ता था; समस्याएँ सामने थीं, पर इतनी उग्र नहीं थीं कि उसे लाचार कर दें। नये आदमी का तब तक जन्म ही नहीं हो सका था, इसलिए नई कहानी की स्पष्ट रूप-रेखाएँ देख सकना असम्भव था। इतना कम नहीं था कि पुरानी लकीर तोड़ी जा रही थी और इसकी पहचान होने लगी थी। हिन्दी के संस्थापकों की रचनाएँ यद्यपि एक नई भूमि का संकेत दे रही थीं किन्तु किसी भी प्रकार वे मूल से विच्छिन्न नहीं थीं। नासिकेतोपाख्यान या प्रेम सागर की कृष्ण-सम्बन्धिनी कहानियाँ अपनी वस्तु (content) तथा अभिव्यंजना में परम्परा-प्राप्त थीं; किसी भी प्रकार की मौलिकता का दावा इनके लेखकों ने पेश ही नहीं किया। बाइबिल, कैण्टरबरी टेल्स या 'आर्थर' की कहानियों का जो प्रभाव इंगलिश साहित्य पर पड़ा हो पर ईसाई-पादरियों द्वारा हिन्दी में प्रकाशित कहानियों या सुसमाचारों की

शैली पर हमारे इन प्रथम लेखकों का प्रभाव कम नहीं था। फलतः एक विचित्र तरह का सौष्ठव उस समय की सभी रचनाओं पर छाया हुआ था। दूसरी ओर इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' पर पौराणिक शैली की जगह मध्यकालीन किस्सागोई की छाप थी; कहानी का प्रवाह यहाँ भी क्षीण ही रहा। इन सभी कहानियों में एक विचित्र बात थी उनकी सामाजिक तटस्थता—एक अजीब-सा विरस विलगाव तत्कालीन स्थितियों से। ऐसा स्पष्ट हो चला था कि बाद में भले ही कला और सौष्ठव का विकास चाहे जैसे हो सके, पर इस शैलीविहीन गतिहीन कहानी का अन्त करने के लिए पहले इस तटस्थता का अन्त ही होना आवश्यक होगा। गदर के आसपास पैदा हुए इस नवीन वर्ग के उदासीन हाथों से यह कलम हटाने की आवश्यकता तब एकदम स्पष्ट हो गई थी।

यह कार्य शीघ्र ही हो भी गया। भारतेन्दु-युग में यद्यपि 'कहानी-कला'-जैसी किसी वस्तु का प्रादुर्भाव भले न हुआ हो किन्तु लघु कथानकों की वस्तु में आश्चर्यजनक परिवर्तन उभर अवश्य आए। राधाचरण गोस्वामी की 'यमलोक की यात्रा', भारतेन्दु का 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' में महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर को दिया गया जवाब, 'चूसा पैगम्बर', आदि रचनाएँ अन्योक्ति पद्धति की सफल कहानियाँ थीं; जिनकी कथा वस्तु एकदम नवीन आधारों पर गठित हुई थी। यहाँ हम आधुनिक कथा को एक साथ ही महाकाव्यों तथा पुराणों की परम्परा से अलग नवीन दिशा में बढ़ते देखते हैं। कलाकार की तटस्थता भंग हो गई है और वह मुखर भी हो गया है। पुरानी उपदेशात्मकता तथा गम्भीरतम आकृति की जगह स्वच्छ व्यंग का जन्म हुआ है जो इस युग की सबसे बड़ी विशेषता है। अन्योक्ति पद्धति में कही गई कथा यद्यपि थी यमलोक की या स्वप्नलोक की, किन्तु सचाई यह थी कि लेखक एक क्षण के लिए भी दुनिया के कटु यथार्थ से तटस्थ नहीं हुआ था।

किन्तु जिस अर्थ में बाद में कहानी को लिया गया उसमें ये कथाएँ अब भी आती नहीं थीं। शैली की दृष्टि से अब भी हिन्दी-कहानी आधुनिक अर्थ में काफी पीछे थी। भारतेन्दु-युग तथा द्विवेदी-युग का सन्धि-काल हिन्दी के सभी क्षेत्रों में बाह्य प्रभाव-काल था। बँगला के माध्यम से नई-नई शैलियाँ सभी क्षेत्रों में व्यवहृत हो रही थीं; हिन्दी-गल्प इसी प्रभाव में विकसित हुई और परएक हद तक इस रास्ते चली भी। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में ही रवीन्द्रनाथ की गल्पों का अधिकांश लिखा जा चुका था; उनकी भावुकता, रहस्यात्मक कौतूहल-वृत्ति तथा सरल पिच्छल कथन-शैली ने आरम्भिक हिन्दी-कहानी पर कम प्रभाव नहीं डाला, और लेखक भी पत्र-पत्रिकाओं में अनूदित होकर आते रहे। इस काल में हिन्दी की भाव-व्यंजना तथा शैली दोनों ही एक झटके से बदल गए पर वस्तु की दिशा में एक विचित्र दुविधा दिखलाई पड़ी। लेखक निश्चय नहीं कर पा रहे थे कि कौन सी राह पकड़ी जाय, कहानी का प्रारम्भ तो हो गया। गिनाने के लिए पं० रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी की कहानियों की सूची भी दे दी किन्तु उस सूची में ऐसा एक भी लेखक न था, जिसने बाद में भी इस दिशा में जमकर कार्य किया हो। इन कहानियों के कहने में भी एक झिझक का भाव दीखता है और यदि कहानी की कसौटी पर कसें तो सम्भवतः अपनी बोझिल (मोनोटनस) शैली के कारण ये काफी पीछे रह जायँगी। इनमें से एक लेखक का भी विश्वास इस शैली पर जमता नहीं दीखता। इन सबके अलावा यहाँ वह भारतेन्दुयुगीन चेतना जो खो गई, उसकी तो चर्चा ही चलानी व्यर्थ है।

इतना होते हुए भी यह स्पष्ट था कि शीघ्र ही इस दिशा में नये प्रयोग होने जा रहे हैं; चिनगारियाँ बता रही थीं कि गर्भ में कुछ गम्भीर निष्कर्ष छिपा हुआ है। द्विवेदीकालीन एक-रसता का अन्त होने वाला था, इसका आभास 'इन्दु' के प्रकाशन ने दे दिया। रचनात्मक साहित्य के लिए यह पत्रिका अधिक उर्वर प्रमाणित हुई। 'सरस्वती' तथा 'इन्दु' ने मिलकर नये लेखकों का जो मण्डल निर्मित किया, वह एक झलक में बुझने वाला नहीं था। जयशंकर 'प्रसाद' की 'चित्राधार' और छायाकाल की रचनाएँ तभी प्रकाश में आईं। यद्यपि उन पर संस्कृत और बँगला का सम्मिलित प्रभाव था, पर इन सीमाओं को तोड़कर ऊपर उठने की शक्ति भी साथ ही लक्षित हो रही थी। प्रसाद अपने कालवर्ती सभी रचनाकारों से अधिक पुराने, अतिभावुक तथा छायानुवर्ती होते हुए जो शीघ्र ही मुक्त और सशक्त होकर अगली पंक्ति में आ गए वह अपनी इसी सीमा लाँघने वाली प्रवृत्ति के कारण। यद्यपि इनकी पहली कहानी 'ग्राम' कहानी से अधिक स्केच ही लगती है किन्तु सन् १९११ तक विकसित हिन्दी कहानी को दृष्टि में रखते हुए इसकी सम्भावनाएँ काफी आशाप्रद थीं। बाद की इस काल की उनकी कहानियों पर बँगला प्रभाव स्पष्ट लगता है। 'तानसेन', 'रसिया बालम' इसी प्रभाव में रचित हुई थीं। एक अतीन्द्रिय भावुकता से उस समय का उनका साहित्य पूर्णतः प्रभावित है। अधिकांश कहानियाँ ऐतिहासिक हैं या सामाजिक होते हुए भी ऐतिहासिक झंकार में डूबी हुई हैं। तत्कालीन अन्य लेखकों में इस भावुकता का प्राबल्य उतना नहीं है, पर हैं वे भी एक सीमा तक इसी वर्ग की। एक विशेष प्रकार के बलिदानी 'दर्द' की खुनक सभी कहानियों में झलकती है। श्री राधिकारमणप्रसाद सिंह, ज्वालादत्त शर्मा, कौशिक तथा चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' की श्रेष्ठ रचनाएँ तब सामने आ चुकी थीं। 'कानों में कँगना' का स्मृत्याभास, 'परदेसी' की विधवा की आकुलता तथा 'उसने कहा था' के लहना-सिंह की आत्मार्पण की करुणा हिन्दी-कहानी के नये बिरवे के लिए दी गई वह जल-धारा है जिसके बिना वह सौ छायाओं में पलकर भी जीवित नहीं रह सकती थी। इन लेखकों ने प्रभाव चाहे जहाँ से लिया हो, शैली चाहे जिनकी पाई हो, पर अपने सहज पुलकित रसोद्रेक को लिये ये पूर्ण मौलिक दीखते हैं। 'उसने कहा था' हिन्दी-कथा का जो एक माइल स्टोन बन सकी वह अपनी इसी विशेषता के कारण। यों अपनी समग्रता (टोटल इफेक्ट) में वह कहानी की सीमाएँ लाँघकर आगे बढ़ी दीखती है; किन्तु सहज मानव-समवेदना का जो युग बाद में भारतीय कथा-साहित्य का प्राण बना उसकी पहचान यहीं हुई। 'उसने कहा था' के साथ हिन्दी-कहानी ने अपने विकास की नई मंजिल शुरू की। प्रसाद, कौशिक आदि की सब रचनाएँ तथा प्रेमचन्द की 'नवनिधि' काल तथा सामाजिक यथार्थ की स्पष्ट स्वीकृति के अलावा तब तक की सब रचनाएँ इसी मंजिल की प्राप्य हैं। बाद में आने वाली स्पष्ट सामाजिक तथा राजनीतिक चेतना से प्रभावित साहित्य की पृष्ठभूमि में रखने पर इनका ऐतिहासिक स्वरूप और निखरता है। मानवीय संवेदना का जितना भार आधुनिक कहानी को वहन करना पड़ रहा है वह उसकी शैलीगत विशेषता के कारण ही; इसलिए यहाँ तक आते-आते वह काफी निखर चुकी थी। अब यत्र-तत्र उसकी रूप-रेखा तथा शक्ति-संतुलन की बातें भी सुन पड़ने लगी थीं। काफी सम्भावना थी कि कहानी अपने सामने फैले रास्तों में से कोई हल्का रास्ता चुनकर आगे बढ़ गई होती—भावुकता, रहस्य-रोमांच, दर्शन, या इस तरह के और भी बहुत से विकल्प सामने आ चुके थे। हृदयेश की अपार भावुकता से लेकर गोपालराम गहमरी की जासूसी कहानियों तक कोई भी राह चुनी जा सकती थी।

कहानी-कला के पारखी उसे एक ओर विशुद्ध कलात्मक अभिव्यंजना का प्रकार बनाने को उत्सुक थे; कुछ थे जो उससे पुराने उपदेश सुनने को कान लगाये बैठे थे; कुछ केवल कथा सुनने के आदी थे। बहुत कम ऐसे थे जो उसकी सम्भावनाओं के बारे में काफी दूर तक सोचते थे। ऐसी हालत में ऐसी सुन्दर शैली का भविष्य एक सीमा तक अस्पष्ट ही लगता था। इसी समय एक नये विश्वास के साथ प्रेमचन्द ने इस शैली को अपनी विचारधारा के प्रकटीकरण का माध्यम बनाया और कहानी की सम्भावनाएँ शतगुण कर दीं; उसे एक साधारण-सी शैली की सीमा से उठाकर जीवन के संघर्षों का एक प्रभावशाली अस्त्र बनाया। कहानी की सामाजिक उपयोगिता का उद्देश्य उभरकर सामने आने से सभी विकल्प मिट गए।

: २ :

प्रेमचन्द का प्रादुर्भाव हिन्दी-कथा-साहित्य की सबसे बड़ी घटना थी। इस घटना का महत्त्व आँकने के पहले कहानी-सम्बन्धी मुख्य धारणाओं पर विचार कर लेने से इस नवीन विकास के प्रति न्याय हो सकेगा। शैली की दृष्टि से पाश्चात्य कहानी काफी आगे थी; चरित्र-विकास की जगह वहाँ जीवन के खण्डों पर प्रकाश डालने की बात जोर पकड़ रही थी। वस्तुतः कहानी के छोटे कलेवर का ध्यान रखते हुए उसे उपन्यासों या प्रबन्ध-काव्यों की कथात्मक पूर्णता के विशाल कार्य से पृथक् रखना ही था। शैलियों की अपनी हैसियत के अनुसार अपने प्रकटीकरण के तरीके होने चाहिएँ; यह बात विश्वास के साथ वहाँ मानी जाने लगी थी: इसलिए एच० जी० वेल्स ने जब कहा कि कहानी भयंकर, रोमांचक चाहे जो-कुछ भी हो पर उसे यह सब बीस मिनट में ही होना है तब उसका तात्पर्य कथा से अधिक उसमें निहित धक्के (shocks & flashes) से ही था। ऐसी हालत में कथा उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं रहती जितनी कही जाने की बात। पश्चिम में चरम की यह प्रतिक्रिया कहानी के उन निर्माताओं के विरुद्ध थी जिन्होंने उपन्यासकार की आँख से इसे देखा था। स्काट, डिकेन्स आदि कहानी-लेखक पहले उपन्यासकार थे कथाकार बाद में; कहानीकार तो वे एकदम अन्त में थे; इसलिए कहानी से अनपेक्षित आशाएँ उन्होंने कर ली थीं। इन्हीं में एक आशा चरित्र-चित्रण की भी थी। यही गलती बाद के मनोवैज्ञानिक तथा 'चेतना का प्रवाह' लेकर आने वाले लेखकों ने भी की। विरजीनिया वूल्फ तक यह बात दुहराई गई थी। इसकी प्रतिक्रिया में चेखव ने एक जगह कहा कि "लेखक को मामूली चीजों के बारे में ही लिखना चाहिए। किस तरह पीटर सेमिओनोविश ने शादी की; बस।" कहना यदि है तो उसे कहीं भी कहा जा सकता है। प्राचीन रोमांचक कथानकों तथा उच्चवंश प्रभव नायकों के मुकाबिले यह बहुत बड़ा कदम नई पीढ़ी ने उठाया था। व्यक्ति की जगह वस्तु की यह स्थापना एकदम नई चीज थी; शैली की दृष्टि से यह उपन्यासों से भी आगे एक कदम था। 'जीवन-मर्म' (vision) के उद्घाटन की जितनी सुविधा कहानी में थी उतनी सम्भवतः अन्य स्थानों पर नहीं थी; कविता तब कितनी ही यथार्थोन्मुखी होकर भी सब्जेक्टिव बनी हुई थी; नाटक की अपनी सीमाएँ थीं, वह बीच में रुक नहीं सकता था; उपन्यास का एक अलग कर्तव्य था; उसे वह अपनी मन्थर (convincing) शैली में पूरा करता था; ऐसी हालत में शीघ्रता से भागती इस दुनिया की झलक केवल कहानी ही अपने अन्दर उतार सकती थी। कहानी के उद्देश्य तथा रूप-विधान के प्रश्न पर यहीं विभेद उठ खड़ा होता है। उद्देश्य स्पष्ट हो या वह कथा की अन्योक्ति की आड़ ले, इस

पर मत बँट गए। सिद्धान्तवादी इस प्रश्न पर एक ओर झुक गए कलावादी दूसरी ओर। बीच में काफी बड़े प्रश्न भी उठ सकते हैं पर सच पूछिए तो यह प्रश्न पूरे साहित्य का है; केवल कहानी के लिए अलग से इसे उपस्थित करने से कोई लाभ नहीं। यह सर्वमान्य बात है कि कथावस्तु जब कथाकार की जीवनानुभूति का एक अंग बन जायगी तब विरोधी दलों का यह आक्षेप अपने-आप ही मिट जायगा। जहाँ वह यही नहीं बनती, शंका वहीं उठती है और ठीक ही उठती है। वस्तु-सत्य में निहित मर्म-भावना अपनी निवृत्ति करेगी ही। कला की सम्प्रेषणीयता हमेशा यही करती रही है; इसमें नये सिरे से तर्क की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

प्रेमचन्द ने बड़ी ही कुशल लेखनी पाई थी। उससे भी कहीं संतुलित उनकी प्रज्ञा थी। उनका विवेक इन दोनों से भी अधिक संवेदनशील था; इसलिए उनके पैंतीस वर्ष के रचनाकाल में उसने निरन्तर उनकी लेखनी और प्रज्ञा पर समान भाव से शासन किया था। उनका यह विवेक एक क्षण के लिए भी तटस्थ नहीं रहा, इसलिए आवश्यकता पड़ने पर उसने असम्भव कार्य भी इनसे कराये हैं। कहीं उन्हें प्रचारक बना दिया है—कहीं सामाजिक संघर्षों की पहली पंक्ति में उन्हें खड़ा किया है, कहीं राजनीतिक आन्दोलनों का स्वरवाहक-मात्र बनाकर छोड़ा है और अन्त में वर्गगत विषमता की कटुता का उद्गाता बनने की स्थिति में उन्हें ला पटका है। इस दौरान में लड़खड़ाकर चलने वाली प्रेमचन्द की भाषा और शैली रास्ते में हाँफ गई है, पीछे रह गई है, पर राह बन्द नहीं हुई है। अन्त में नवनिधि की सीधी-सादी भीरु शैली कफन-युग की कहानियों का विष पीकर भी स्थिर पद बनी रहती है। शैली बनाने में संघर्षों का कितना बड़ा हाथ होता है, यह प्रेमचन्द की शैली से स्पष्ट है। पाश्चात्य ढाँचा ग्रहण करके भी वे कई दृष्टियों से मौलिक थे। समय-समय पर वे अपनी शैली को आधुनिक निखार देते गए किन्तु शुरू से अन्त तक वे एक सफल कहानी कहने वाले बने रहने में समर्थ हो सके। चरित्र-चित्रण-प्रधान कहानियाँ भी उन्होंने लिखीं, पर उनमें भी कथात्मकता बनी रही; उद्देश्य-प्रधान कहानियों की तीखी धार पर भी वे किस्सागोई से विरत नहीं हुए। इस दिशा में विषय पर उनकी पहुँच बराबर बहिर्मुखी रही। घटनाओं के माध्यम से ही वे अपनी बात कहते थे; केवल मनोविश्लेषण के स्वतः संचालित सूत्रों के बल पर सोचते रहने की उस आदत का वहाँ अभाव था जो जैनेन्द्रकुमार में बाद में जाकर विकसित हुई। उनकी श्रेष्ठ कहानियाँ जैसे गृह-दाह, नशा, कफन, शतरंज के खिलाड़ी, डायुल का कैदी इसी शैली की हैं।

इन सब गुण-दोषों को लेकर आलोचकों का एक वर्ग ऐसा भी है जो कहता है कि प्रेमचन्द अपने वर्गगत स्वार्थों और सीमाओं में घिरे रहे। निम्न-मध्यवर्ग की सांस्कृतिक चेतना तथा नैतिकता की छाप वे अन्त तक दूर नहीं कर सके; उनका रूप हमेशा एक सुधारवादी का बना रहा; उनमें क्रान्तिकारिता की खोज करना आकाश-कुसुम पाने का प्रयत्न करना है। ये ही दोष एक ज़माने में टाल्स्टाय पर भी लगाये गए थे जिनके लिए लेनिन ने कहा था—

"An artist truly great must have reflected in his work at leastst some essencial aspect of his revolution."

टाल्स्टाय अपने वातावरण की सीमाओं में बद्ध थे अवश्य किन्तु आगे बढ़कर वे लक्ष-लक्ष अपमानितों के स्वरवाहक बन सके। प्रेमचन्द के लिए भी यही सच था। दोनों ने ही लेनिन के शब्दों में अपने युग तक विकसित कला को उसकी सीमाओं से आगे ले जाकर छोड़ा (A step

forward in the artistic development of all mankind) दोनों ही इसलिए साधारण से ऊपर उठ गए हैं। किसान वर्ग के प्रति निर्व्याज सहानुभूति तथा उसकी गोष्ठी में आती नवीन चेतना के प्रति पूर्ण अपनत्व रखकर ही प्रेमचन्द ने अपनी लाचारियों पर विजय प्राप्त की थी। इसी प्रत्यक्ष सत्य के स्वीकरण के कारण वे इतने विशाल हो गए कि बाद में आने वाली पीढ़ी की पृष्ठभूमि में आज तक अवस्थित हैं। कितनी ही नई चेतनाएँ आईं, समस्याओं के दो टूक समाधान आये पर प्रेमचन्द अपने स्थान पर बने ही रहे।

इससे ठीक दूसरी ओर जो कहानियाँ खड़ी हैं उनमें प्रसाद का स्थान अन्यतम है। 'छाया' के पश्चात् प्रतिध्वनि (१६२६) के प्रकाशन तक उन पर रवि ठाकुर का प्रभाव बना हुआ है। मसृण भावुकता और अतिशय चित्रात्मकता उन्हें प्रेमचन्द से अलग रखती है। खण्डहर की लिपि 'चक्रवर्ती का स्तम्भ' टैगोर के क्षुधित-पाषाण की तरह की स्मृत्याभास प्रधान कहानियाँ हैं जिनमें इतिहास के प्रति लेखक का मोह गद्य-काव्य की सीमा तक पहुँच गया है। आकाशदीप (१६२६) के प्रकाशन तक वह भावुकता थोड़ी दार्शनिकता का पुट पा जाती है पर मूल में वही रहती है। मनोविश्लेषण का हल्का प्रयत्न 'सोने के साँप' 'प्रतिध्वनि' आदि में दीख पड़ता है तथा एक प्रकार की सहानुभूति सब कहीं बिखरी दीखती है। आँधी (१६३१) तथा इन्द्रजाल (१६३६) प्रौढ़ कृतियाँ हैं जिनमें प्रसाद की कुछ सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ आ गई हैं। 'आँधी', 'मधुवा' तथा 'इन्द्रजाल' में पहले की भावुक चित्रात्मकता कम होकर मनोविश्लेषण के लिए स्थान बना देती है; साथ ही वस्तु में आदर्शवादी होते हुए भी प्रसाद एक सहज संवेदना का धरातल बना लेते हैं। 'सालवती' इस दिशा का सबसे सफल प्रयोग है। देवरथ की सुमाता, सालवती तथा पुरस्कार की मधूलिका की वही जाति है जिसमें तितली, ध्रुवस्वामिनी तथा देवसेना का जन्म हुआ है। नियति और समाजनीति के बन्धनों में जूझती नारी का ऐसा अभिव्यक्ति-व्याकुल चित्र सम्भवतः अन्यत्र न मिलेगा। यहाँ विरोधों से एक साथ जूझने के सामाजिक प्रश्न पर वे शरत् या प्रेमचन्द से बहुत दूर नहीं लगते; प्रश्न केवल रह जाता है वर्तमान तथा भूतकाल की पीठिका का। प्रसाद की यह सहानुभूति जीवन के अन्त तक अनाम जो रही उसके लिए सम्भवतः बाद का आलोचक उन्हें टोकेगा; पर सहानुभूति की शिकायत कभी कोई करेगा ऐसी आशंका नहीं होनी चाहिए। उनका यथार्थ दर्शन यदि थोड़ा और सामाजिक हो सका होता तो एक बड़ा कार्य हो गया होता। 'गुण्डा' कहानी में उन्होंने एक विचित्र साहस किया था, किन्तु उसका उचित विकास न हो सका।

इन दो महान् कथाकारों के बाद नई जमीन बनाने का कार्य साधारण नहीं था। काफी दिनों तक इन्हीं दो धाराओं में लेखक बँटे रहे। प्रेमचन्द के साथ श्री विश्वम्भर 'कौशिक' श्री सुदर्शन, तथा आचार्य चतुरसेन ने आदर्श और यथार्थ का समन्वय अपनी कहानियों में प्रस्तुत किया। टेकनीक के लिए वे अन्त तक प्रेमचन्द के आभारी रहे। सुदर्शन की प्रमुख कहानियाँ अपनी पूर्णता में कहीं-कहीं प्रेमचन्द की-सी ऊँचाई तक पहुँच अवश्य जाती हैं पर सामाजिक सत्य का साक्षात्कार जिस सीमा तक प्रेमचन्द ने किया था वहाँ तक उनकी पहुँच नहीं थी। 'प्रसाद' से प्रभावित श्री विनोदशंकर व्यास की स्थिति भी सुदर्शन की-सी थी। जीवन के मधुर प्रसंगों की उद्भावना सफलतापूर्वक करके भी वे प्रसाद के मानवतावाद की छाँह न छू सके, इसलिए उनकी कला असमय में ही मुरझा गई। इन लेखकों के साथ हिन्दी-कहानी का एक ऐतिहासिक विकास

अपना चक्र पूरा कर चुका था। नई शक्तियाँ पहचान के लिए व्याकुल थीं।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' अपनी भाषा और पैनी दृष्टि के लिए अलग से याद किये जाएँगे। वर्तमान समस्याओं पर पहुँचने का उनका तरीका अपने समकालीन सभी लेखकों से अलग था, किन्तु मूल में आदर्शवादी (रोमांटिक) प्रवृत्तियाँ उनकी कहानियों में सब कहीं वर्तमान थीं। बाद का उनका उच्छृंखलता की सीमा तक पहुँच गया अहंभाव इसी प्रवृत्ति का विपर्यय था। इस दोष (!) के कारण उनके व्यंग्य में एक अपूर्व पैनापन भी आ गया था जिससे उनकी कहानियाँ जगमगा उठती थीं। उपन्यासकार श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने भी कुछ कहानियाँ लिखीं, पर वे पूर्ववर्तियों की छाया से अपनी शैली मुक्त नहीं रख सके।

: ३ :

प्रेमचन्द की मृत्यु (१९३६) के समय तक हिन्दी कथा-साहित्य में नवीन प्रवृत्तियाँ स्पष्ट हो चुकी थीं। नये लेखकों के लिए प्रेमचन्द प्रेरणा से अधिक प्रतिष्ठा और पूजा के विषय हो गए थे; मिरेस्की ने एक जगह गोर्की के लिए भी इसी तरह की बात कही है। सामाजिक चेतना और शैली की दृष्टि से साहित्य में नये संकेत स्पष्ट हो रहे थे जिनकी नींव में प्रेमचन्द थे, पर जो अशक्त और सूक्ष्म होकर भी एक नया क्षितिज उद्भासित कर रहे थे। प्रेमचन्द के आरम्भिक विकास तथा इन नवीन रचनाओं के बीच में प्रेमचन्द की अन्तिम दिनों की लिखी रचनाएँ आती हैं, जिनमें एक नवीन बेचैनी और विश्वास का स्वर स्पष्ट हो रहा है। 'मंगल सूत्र' इस दिशा में काफी आगे बढ़ा हुआ है। प्रेमचन्द की उत्कण्ठा और जिज्ञासा की मौलिक वृत्ति ने इस शैलियों की संक्रान्ति में कहानी की इस निरन्तर जागरूक हो रही परम्परा को विच्छिन्न होने से बचा लिया। ईदगाह, क्षमा, परीक्षा, गृहदाह, मंच तथा यशपाल, जैनेन्द्र की अत्याधुनिक कहानियों के बीच में कफ़न, काश्मीरी सेब आदि कहानियाँ रखने से यह स्पष्ट हो सकेगा कि कैसे उदार आदर्शवादी परम्परा यथार्थ से आगे बढ़कर वैज्ञानिक यथार्थवाद की ओर उन्मुख हो रही है।

फिर भी प्रेमचन्द के पश्चात् हिन्दी-कहानी की वस्तु तथा शैली दोनों में कुछ बिलकुल नये तत्त्व भी प्रस्फुटित हुए; एक तरह से कथा की जाति भी बदली। प्रेमचन्द काफी दूर तक गवईं गाँव के कथाकार थे—बाद में उतनी सहानुभूति और रसानुभूति से एक भी लेखक ने इस पक्ष का स्पर्श नहीं किया। इस स्थान पर शहरी मध्यमवर्ग की समस्याएँ विभिन्न पक्षों से खराद पर चढ़ीं। मजदूरों के प्रति भी कोई व्यापक सहानुभूति स्पष्ट न हुई; यों गरीबी के खण्ड-चित्र संघर्ष की पीठिका से अलग काफी सामने आये।

इसका कारण बहुत कुछ तो नाना पथों पर बँटी स्वतन्त्र चेतना ही है, किन्तु परिस्थिति का असर भी कम नहीं था। प्रेमचन्द के युग तक यद्यपि विश्व-भर में फैली संक्रान्ति स्पष्ट हो चुकी थी (१९३५ में लेखकों की पेरिस-कांफ्रेंस ने इस विनाश की तरफ स्पष्ट संकेत कर दिया था) पर उसका नग्न रूप उनकी मृत्यु के बाद सम्मुख आया। दुनिया साफ-साफ कई तरह के लोगों में बँट गई; धीरे-धीरे उनके केन्द्र भी बने और संघर्ष उग्र हो उठा। इस बार का संघर्ष काफी दूर तक तो पूँजीवाद के अपने अन्तरनिरोधों के कारण था, पर उसके निष्कर्ष पर समाजवादी शक्तियों का भी बहुत बड़ा प्रभाव पड़ने जा रहा था। कुछ वर्ष पहले का कुहरा

यद्यपि एकदम साफ नहीं हुआ था, किन्तु मंगल सूत्र की आखिरी पंक्तियों में हिलता-डुलता धुँधलका १६४०-४१ तक काफी साफ हो गया था। प्रेमचन्द साहित्य की 'सिल्यूटी' तसवीरों के चेहरे स्पष्ट हो रहे थे। इस संघर्ष में हिन्दुस्तान के लेखकों में भी काफी मतभेद उत्पन्न हो गए थे। वस्तु और सन्देश के प्रश्न पर रास्ते बँट गए थे। कुछ ने अपना रास्ता बदला था, पर कुछ अपने विश्वासों पर पूर्ववत दृढ़ थे।

पहले से लिख रहे लेखकों में अब तक जैनेन्द्र कुमार, भगवतीचरण वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी अपने विश्वासों पर स्थिर रहे। इनकी सम्पूर्ण देन हिन्दी कथा के शैली-पक्ष को है। मनोविश्लेषण, वातावरण चित्रण, तथा चरित्रों के विरोधाभास की दिशा में उपस्थित की गई परिस्थितियों के निर्माण में इन लोगों ने कौशल का परिचय दिया। जैनेन्द्र कुमार अपनी अदायगी (presentation) में पहले से ही अन्तर्मुखी रहे (यों उनका विकास प्रेमचन्द की छाया में हुआ)। उनका विकास प्रेमचन्द से इतर जाति का रहा। ये और वाजपेयीजी इसी कारण कभी-कभी लक्ष्य-कथन में प्रतीकों का सहारा भी लेते दीख पड़े तथा अन्तर्वृत्ति निरूपण में अक्सर रोमानी तरीकों का प्रयोग भी करते रहे। जैनेन्द्र में कहीं-कहीं सामाजिक चेतना भी दीख पड़ी, पर इनके साहित्य की पृष्ठभूमि सदैव पारिवारिक रही; घरेलू स्त्री-पुरुष इनके विषय बने रहे। भगवतीचरण वर्मा की कहानियाँ उनके उपन्यासों के विपरीत अक्सर सीधी चटियल तथा व्यंग्य-प्रधान होती हैं। एक निर्भय करुणा कहीं झलकती है, पर अक्सर व्यंग्य और हास्य उसे ढके रहता है। श्री सियाराम शरण गुप्त ने यद्यपि कहानियाँ कम लिखी हैं (अधिकांश स्केच, पर्सनल एसे तथा निबन्ध ही झूठ-सच में हैं, पर पुस्तक का नामकरण एक कहानी के आधार पर ही हुआ है) किन्तु साहित्य में वस्तुगत कारुण्य से उनकी शैली में एक मार्दव सब-कहीं दीखता है; अपनी आस्तिक सहानुभूति के बल पर वे वस्तु तथा शैली की दृष्टि से अपनी सीमा से काफी आगे बढ़कर निर्णय देते हैं। श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने भी कुछ अनुभूतिपूर्ण कहानियाँ लिखी हैं, कम-से-कम 'पानवाला' उनकी एक सुन्दर कृति है, किन्तु इस शैली को अपना विश्वास वे नहीं दे सके हैं, ऐसा स्पष्ट लगता है। श्री 'निराला' की अधिकांश कहानियाँ '४० के पहले की हैं; उन पर भी युगीन चिन्ता की छाप नहीं मिलेगी, पर अपने संकेतों में काफी सुलझे हुए हैं 'गजानन्द शास्त्रिणी', 'पद्मा और लिली' दो उनकी टिपिकल कहानियाँ हैं जहाँ कथानक या विकास की तरफ कम पर रुकावट की तरफ अधिक ध्यान दिया गया है। कहानियों की अपेक्षा वे अपने स्केचों में अधिक खुलते हैं। उन्हें वहीं पहचानना होगा।

इस सहज सहानुभूति तथा मानवीय सत्यों की दृष्टि से चारों ओर फैले समाज को देखने वाले कथाकारों के कोई अपने विशेष आग्रह प्रारम्भ में स्पष्ट नहीं थे (संघर्ष पहले उतना स्पष्ट हुआ भी नहीं था) बाद में इनमें से कई मौन हो गए, कइयों ने अपने विश्वास नहीं स्पष्ट किये पर विरोध स्पष्ट अवश्य कर दिया। सियारामजी ने एक 'रेडियो टॉक' में अपने को स्पष्ट करते हुए कहा कि 'एक बूँद आँसू जो बाहर गिरता है, मिट्टी में मिल जाता है; वही अगर भीतर हृदय में रसे तो मोती बन जाता है।' साफ है कि वे अपनी सहज करुणा के पक्षपाती थे। पर करुणा अगर आँख खोले रहे तो बड़ी आशाएँ की जा सकती हैं। जैनेन्द्रजी ने जब तक आग्रह नहीं स्पष्ट किये थे उनकी रचनाओं में बड़ी गहरी संवेदना के दर्शन होते थे; उसे प्रकट करने का उनका तरीका भी मौलिक था; किन्तु बाद में उनके दर्शन (?) ने न जाने कहाँ बहा डाला।

आज उनके तर्कों को समझना साधारण बुद्धि के परे है ।

इस पीढ़ी से थोड़ी अलग एक नई पीढ़ी मनोविश्लेषकों की भी उठ रही थी। पश्चिम में इस दृष्टिकोण का व्यापक प्रभाव साहित्य के सभी अंगों पर पड़ा। पूँजीवादी व्यवस्था से हताश विश्वयुद्धों की छाँह में पले मध्यवर्ग ने इसके बल पर अपने असन्तोष के लिए एक शास्त्र पा लिया, और काफी विश्वास से इसका प्रयोग भी किया। यहाँ भी श्री इलाचन्द्र जोशी ने विश्लेषण की एक सुन्दर मृदु शैली का विकास अपने उपन्यासों में किया। अपनी फैलाव तथा स्पष्टीकरण की वृत्ति के कारण यह शैली कहानियों के छोटे कलेवर में सफल नहीं हो सकी; नतीजा हुआ इनकी अधिकांश कहानियाँ 'डायरी के पन्ने' बनकर रह गई हैं, उनमें रह-रहकर आये हिस्टीरिया के दौरों के ही क्लाइमेक्स की सहायता ली गई है। अक्सर यह विश्लेषण रोगों के निदान की तरह विचित्र अहैतुक तथा सिद्धान्तवादी हो जाता है, निराकरण का प्रयत्न कहीं नहीं दीखता। अपनी सीमित दृष्टि के कारण (या आग्रह-विशेष के कारण) वे विस्तृत विश्व में अपने पात्रों की लाचारी का जवाब नहीं माँगते। श्री 'अज्ञेय' दूसरे मनोविश्लेषणकारी कहानीकार हैं जिनको उनकी कहानियों ने प्रतिष्ठित किया है। 'विपथगा' की सभी कहानियाँ अपना अलग व्यक्तित्व रखती हैं; उनकी अपनी एक प्रेरणा (urge) है। पगोडा वृत्त, अकलंक, शत्रु, रोज आदि कहानियों में विश्लेषण बड़ा ही स्वाभाविक है; गहराई (स्वयं अज्ञेयजी शंकालु हैं) कम हो, इसकी चिन्ता हमें नहीं है। एक रचनात्मक चिन्ता का अवसाद सब कहीं दीखता है, जिसमें जोशीजी की-सी घुटन नहीं है। शैली की ताजगी भी इसी गुण के कारण निखरी है और एक नई शक्ति के दर्शन हुए हैं। इनकी कहानियों से हिन्दी की कथन-शैली में नये विश्वास उत्पन्न हुए किन्तु 'परम्परा', तथा 'कोठरी की बात' में विश्लेषण की वह ताजगी छिन गई। स्वयं लेखक को ये संग्रह अपनी गहराई के लिए पसन्द हैं। विश्लेषण का स्तर युवावस्था के उन्माद से थोड़ा प्रौढ़ता की ओर अवश्य बढ़ा है। 'शरणार्थी' कहानी-संग्रह में सहानुभूति ने एक झिलमिल प्रकाश इन्हें दिया है, तिक्तता (जो आना सरल था, जिसके लिए कोई दोष भी न देता) बचाकर ये इस संरक्षण-चेष्टा में काफी सन्तुलित से बने रह सके हैं। 'जयदोल' की कहानियाँ भी उसी विश्लेषण की दिशा में आगे बढ़ती हैं। अज्ञेयजी प्रारम्भ में कहानी के स्पष्टीकरण का अधिक बोझ स्वयं उठा लिया करते थे, यह प्रवृत्ति इधर दबती-सी दीखती है। अज्ञेय तथा 'प्रतीक' के साथ लेखकों-कवियों का एक मण्डल है जिसने काफी विश्वास के साथ, मनोविश्लेषण की दिशा में प्रयोग किये हैं। 'कविता' के क्षेत्र में कई व्यक्तित्व स्पष्ट हुए हैं, पर कहानी की दिशा में कोई स्पष्ट उभार लक्षित नहीं हो रहे हैं। नाम तो कई आये, पर अभी उनका उल्लेखनीय साहित्य प्रकाशित नहीं हो सका है। 'पहाड़ी' तथा 'अश्क' की आरम्भिक रचनाएँ काफी हद तक रोमानी रही हैं। अपने इस गुण से इन दोनों ने काफी पाठक बनाये हैं, पर आज स्वयं इनका विश्वास ही इस शैली पर नहीं रह गया है। 'अश्क' की अन्य प्रवृत्तियाँ काफी सशक्त होकर सामने आई हैं जिनका वर्णन यथास्थान होगा। 'धर्मवीर भारती' ने भी इस दिशा में अच्छी कहानियाँ लिखी हैं। एक तरुण का रोमानी स्वभाव उन पर सब कहीं (शैली पर भी) हावी रहता है। शम्भूनाथसिंह 'विद्रोह' तक में रोमानी हैं; श्रीराम शर्मा, देवीदयाल चतुर्वेदी, प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त,' आरसी प्रसादसिंह, माया ग्रुप के बलवन्तसिंह, द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण', रानी ग्रुप के छेदीलाल गुप्त, आदि के पास अच्छी शैली है; अवसर और उत्तरदायित्व की कमी से वे अपनी

जगह पर रुके से दीख पड़ते हैं।

इन लेखकों को प्रेमचन्द के बाद तथा सामाजिक चेतना सम्पन्न लेखकों के पहले रखने का तात्पर्य यही है कि हिन्दी की परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का निराकरण हो सके। इन लेखकों में लिखने वालों की वह दो पीढ़ियाँ आ गई हैं जिनका विकास प्रसाद के उद्भव के थोड़ा बाद तथा प्रेमचन्द के पश्चात् के संक्रान्ति के पूरे एक दशक में हुआ है। इन्होंने काफी दूर तक सामाजिक, राजनीतिक तथा विश्वयुद्धजनीन प्रभावों से अपनी कला को अप्रभावित या तिर्यक-प्रभावित रखा है। शैली की दृष्टि से उनका दान हिन्दी-कहानी को अपूर्व रहा है; इन्होंने अभिव्यंजना का मान काफी ऊँचा किया है और प्रेमचन्द की छोड़ी कथन-परम्परा में काफी नये प्रयोग किये हैं।

किन्तु प्रेमचन्द के प्राण की रक्षा करने वाले ये कथाकार नहीं थे। यह कार्य किया दूसरे वर्ग ने। १६३५ की पेरिस कान्फ्रेंस के निर्णय में विश्व के प्रथम श्रेणी के साहित्यकारों का सहयोग था। मैक्सिम गोर्की, रोम्यारोलां, आन्द्रे माखा, रवि बाबू आदि तथा ऐसे अन्य प्रतिनिधि कलाकारों ने अपना विश्वास इसे दिया था। जिस परिस्थिति की ओर इशारा उन्होंने किया था उसे दुनिया में घटी घटनाओं ने सही प्रमाणित किया; साहित्यकार इस स्थिति के असहाय दर्शक न बने, इसलिए यह आवाज उठाई गई थी। दुनिया के अधिकांश साहित्यकारों ने यह विश्वास स्वीकार किया और इसी के अनुसार अपना दृष्टिकोण भी स्थिर किया। ऐसे लोगों का साहित्य इस पिछले १६३५ से आज तक की परिस्थिति के विषय में अपना स्पष्ट मत रखता है; वह कला या विश्लेषणवादियों की तरह इस पक्ष पर एक अवसाद (फ्रस्ट्रेशन)-भरी चुप्पी साधने को ही साहित्य का चरम नहीं मानता। वह अपनी भरसक द्विविधा का पर्दा हटाने का प्रयत्न करता है और इस प्रयत्न की ईमानदारी को ही कला की सबसे बड़ी कसौटी मानता है। ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि किस कारण वह इन कलावादियों को पूँजीवादी स्थितिशीलता का शिखण्डी मानता है। यहाँ मनोविश्लेषक तर्क उपस्थित करते हैं कि समाज का वातावरण ऐसे ही टूटे, दुःखी और अतृप्त मनों से बना है; ऐसी हालत में हमारा ही रास्ता ठीक है। नया बुद्धिजीवी जब ऐसे तर्क देता है तब वह स्वयं अपनी स्थिति एकदम साफ कर देता है। वह स्वयं उस वर्ग का व्यक्ति है। उसमें ऐसी क्षमता नहीं कि वह यह घेरा तोड़कर बाहर आवे। तुर्गनेव ने जहाँ अपने नये पात्रों (बैजोरोव आदि) को टूटा हुआ उपस्थित किया वहीं उसी समाज में नक्रोस्कोव को जीवित सशक्त आदमी भी मिले। कारण प्रश्न पात्रों का नहीं लेखक के जीवन देखने के कोण का है। १६०५ से १६१७ के रूस में जिसे जीवित युवक न मिले तथा १६४२ के वातावरण में जिन्हें केवल टूटे मन ही दीखें उन पर साहित्यिक दृष्टि से विचार करने के पहले डॉक्टरी दृष्टि भी डालनी होगी। राल्फ फाक्स ने ऐसे लोगों पर तरस खाते हुए लिखा है कि वे कब समझेंगे कि व्यक्ति सामाजिक समष्टि का एक ऊँचा पात्र है। गोर्की ने भी ऐसे लोगों की अवसादजन्य एकान्तिकता का निराकरण करने के लिए उन्हें जनता के पक्ष में जाने की सलाह दी है और कहा है कि तब ऐसे लेखक अपने को कटा हुआ तथा राख का ढेर न समझेंगे।

इस विश्वास से प्रकाशित होने वाले कथाकारों की एक विशाल संख्या ही इस दशक की सबसे बड़ी देन रही है। इन लेखकों ने न केवल सामाजिक तथा राजनीतिक संघर्षों का उचित

निराकरण किया है अपितु एक नवीन दृष्टिकोण के बल पर इन्होंने समाज के स्तर-भेद करके छोटे-से-छोटे सम्बन्धों का निराकरण प्रस्तुत किया है। स्त्री-पुरुष, प्रेम, वासना, जातिगत, धर्मगत रूढ़ियाँ, धारणाएँ सबको नई कसौटी पर कसकर निर्णय देने के विश्वासी ये रहे हैं। इस कार्य में जहाँ एक ओर अजस्र करुणा की आवश्यकता उन्हें रही है वहीं निर्ममताजन्य व्यंग भी उनका अस्त्र रहा है। इन दो विरोधी धारों की तलवार लेकर जो कार्य ये कर रहे थे उसकी ऐतिहासिकता असंदिग्ध थी, पर इनकी लाचारी भी कम स्पष्ट नहीं थी। इस प्रकार के साहित्य के निर्माण के लिए एक सशक्त जन-आन्दोलन की पीठिका आवश्यक थी। लड़ाई प्रारम्भ होने के पहले तक जिस तरह का आन्दोलन आवश्यक था वह एक सीमा तक विकसित नहीं था; जो कुछ था भी उसकी रीढ़ साम्राज्यवादी दमन ने तोड़ दी थी। दूसरी ओर लेखकों का प्रत्यक्ष सम्पर्क भी इन आन्दोलनों से नहीं था, जिसके कारण तथा संकीर्णता के कारण बार-बार भूलें हुईं। इन कारणों से इस साहित्यिक आन्दोलन का स्तर उठ नहीं सका। यह होते हुए भी अपनी ईमानदारी तथा अनुभूति की तीव्रता के कारण यह साहित्य लोकप्रिय हुआ तथा काफी दूर तक उसने हिन्दी कहानी को संवारने तथा उसके प्रभाव को तीव्र बनाने में ऐतिहासिक योग दिया।

यशपाल की सफलता इस दिशा में काफी निर्णायक और उत्साहवर्द्धक रही है। अपनी कहानियों में न केवल वस्तु के नाते अपितु शैली की नवीनता के नाते भी वे प्रेमचन्द के मुकाबिले एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। पात्र उनके अधिकांश मध्यवर्ग से या निम्नतम स्तर के शहरी मजदूरों से आते हैं। किसी आन्दोलन के अंश वे अक्सर नहीं हैं पर उनको उपस्थित करने का ढंग यशपाल का वैज्ञानिक होता है। यशपाल की करुणा निष्फला नहीं होती, आक्रोश उनका बेमतलब नहीं होता; प्रोत्साहन वे उसको देते हैं जिसकी कोई हैसियत आज की नैतिकता के चौखटे में नहीं होती। इस दृष्टि से वे अपने पहले के पाश्चात्य लेखकों, इब्सन, शा के व्यंगों की सामाजिकता से होड़ लेते हैं। कथन-शैली में वातावरण की सृष्टि करते हुए भी अक्सर ये अपना पूरा मोह अन्त की पंक्तियों तक के लिए सुरक्षित रखते हैं। प्रेमचन्द से भिन्न इनकी कथाओं के अन्त बड़े विचित्र (trick-ending) होते हैं; जैसे कबड्डी का खिलाड़ी झुकने का नाट्य किसी ओर करे और किसी दूसरे को छू कर बैठा दे। अपने आधे दर्जन प्रकाशित कहानी-संग्रहों में यशपाल ने समाज की पचासों समस्याओं पर कथानक प्रस्तुत किये हैं। प्रतिष्ठा का बोझ पुलिस की दफा, रिजक, गड़ेरी, हलाल की रोटी, शम्बूक, आदमी का बच्चा, भस्मावृत चिंगारियाँ, चित्र का शीर्षक, फूलों का कुर्ता आदि कहानियाँ समाज के नाना स्तर भेदकर सत्य का उद्घाटन करती हैं; पर यह उद्घाटन अक्सर निर्माणात्मक रहता है। ध्वंस केवल ध्वंस के लिए कोई स्वस्थ दृष्टिकोण नहीं है। सामाजिक नैतिकता के गाल पर निर्मय भाव से जो तमाचे जड़े गए हैं उनका असर दूसरी जगह देखना ही ठीक होगा। डिप्टी साहब, उत्तराधिकारी, पाँव तले की डाल, १००, काफी कड़ी रचनाएँ हैं। यशपाल के साथ ऐसे लेखकों की एक बड़ी संख्या आगे आई। इस दिशा में प्रेमचन्द के हंस ने ऐतिहासिक कार्य किया। उसके मण्डल में 'अश्क', चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, राधाकृष्ण, विष्णुप्रभाकर, रहबर, भगवत शरण, रांगेय राघव, अमृतराय, गंगाप्रसाद मिश्र, मोहनसिंह सेंगर, प्रभाकर माचवे, त्रिलोचन, नरेन्द्र शर्मा, अमृतलाल नागर, आदि प्रमुख थे। इनके बाद एक पीढ़ी और बन गई है जिनमें तेजबहादुर चौधरी, मिसला मिश्रा, कृष्णा सोबती, सावित्री निगम, शोभाचन्द्र जोशी, गिरीश अस्थाना, हर्षनाथ, भीष्म साहिनी आदि प्रमुख हैं। 'सरगम' के साथ भी कई अच्छे

कहानी-लेखक हैं जिनमें प्रकाश पण्डित, कन्हैयालाल कपूर ने कुछ रचनाएँ दी हैं। लेखकों की यह बड़ी संख्या बिना समझौता किये वर्तमान समस्याओं तथा विषमताओं का जवाब देती रही है। पिछले युद्धकाल की परेशानियाँ, अकाल, कुण्ठा और निरन्तर टूटती व्यवस्था को इन्होंने अपनी कथा का विषय बनाया है। इनमें अश्क तथा राधाकृष्ण के हाथों कहानी की सम्भावनाएँ काफी बढ़ी हैं। चन्द्रकिरण की मध्यवर्गीय परिवार तथा मजूर श्रेणी पर रचित बेजुबाँ तथा आदमखोर जैसी रचनाएँ अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखती हैं। अन्य लेखकों में कलागत निखार दिन-पर-दिन आता जा रहा है। श्री मन्मथनाथ गुप्त अपनी कहानियों में कई बातें एक साथ कहते दीख पड़ते हैं। जमकर कहने की आदत आना ही उनके लिए हितकर होगा। श्री राहुल सांकृत्यायन तथा भगवतशरण ने ऐतिहासिक कहानियाँ भी लिखी हैं, पर राहुल जी का इतिहास-दर्शन वैज्ञानिक है। 'वोल्गा से गंगा' का एक अर्थ (purpose) है; उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। रामवृक्ष बेनीपुरी तथा नलिन विलोचन शर्मा ने बिहार प्रान्त में कहानी लिखने का प्रयोग किया है। 'माटी की मूरतें' एक ऐतिहासिक प्रयत्न है। 'विष के दाँत' कहानी में शर्माजी का दृष्टिकोण बड़ा ही स्वस्थ एवं वैज्ञानिक है। बाद में वह एक अजीब परेशानी के शिकार हो गए हैं। देवेन्द्र सत्यार्थी के कई संग्रह सामने आये हैं; उनमें चित्रात्मकता का गुण लोकगीतों की सुन्दर देन है। श्री शिवप्रसाद मिश्र रुद्र का संग्रह 'बहती गंगा' एक मौलिक कृति है। स्थानिक वातावरण का इतना यथार्थ चित्रण और ऐसी सप्राणता प्रसाद की गुण्डा कहानी की याद दिलाती है। ऐसे वातावरण-प्रधान साहित्य की अपनी एक ऐतिहासिकता होगी।

संक्षेप में हिन्दी की विशाल कथा-परम्परा के दल का निरूपण करने पर एक विश्वास से मन भर जाता है। हिन्दी के कथा साहित्य ने बड़ी ही तन्मयता से अपना कार्य पूरा किया है, उत्तरदायित्व का ज्ञान उसे अपेक्षाकृत और शैलियों से अधिक रहा है। यद्यपि प्रेमचन्द-सा कोई व्यक्तित्व इस बीच नहीं हुआ, किन्तु समस्याओं का निराकरण बड़ी ही शक्ति से किया गया है। आज आवश्यकता है कि समाज-शक्ति इस वर्तमान कुण्ठा का स्थान शीघ्र-से-शीघ्र ले। जीवन की व्याख्या के नये मूल्यों के प्रति विश्वास की भावना और दृढ़ होने से ही यह सम्भव हो सकेगा।

बच्चन सिंह

४
हिन्दी नाटक

संस्कृत की ह्रासोन्मुखी परम्परा

भारतेन्दु के पूववर्ती हिन्दी-साहित्य में नाटकों का अत्यधिक प्रभाव मिलता है। संस्कृत-साहित्य में कविता की अपेक्षा नाटकों का स्वर अधिक मुखर है, किन्तु हिन्दी-साहित्य में अठारहवीं शती तक तो कविता की विविध राग रागिनी ही गूँजती रहती है। नाटकों के रंध्रों में न तो कोई स्वर फूँकने वाला दिखाई देता है और न ही उसे सुनने के लिए कोई उत्सुक प्रतीत होता है। यदि कहीं से कोई स्वर फूँकता हुआ दिखाई भी पड़ता है तो उसका अनाड़ीपन औरों का उत्साह भंग कर देता है। नाट्य-साहित्य की इस रिक्तता का क्या कारण है ? इस प्रश्न पर हिन्दी के कुछ सुधी लेखकों ने अपने विचार प्रकट किए हैं। किसी ने गद्य के अभाव को इसका मूल कारण माना है तो किसी ने मुसलमानी शासन को दोषी करार दिया है। कुछ विद्वानों ने तत्कालीन वातावरण में इसके कारण की खोज करते हुए कह डाला है कि सन्तों की निराशामूलक वाणी के कारण नाट्य-सृजन की प्रेरणा कुण्ठित हो गई। किन्तु ये सतही विचार मूल कारण से बहुत दूर हैं। साहित्य की सारी गतिविधियों के मूल में विदेशी आक्रमणों तथा धार्मिक आन्दोलनों के स्थूल प्रभाव को देखने की चाल वैज्ञानिक नहीं है। साहित्य की एक अखण्ड दीर्घ परम्परा होती है। साहित्य के किसी भी रचना-प्रकार पर विचार करने के लिए उसे उस प्रकार की साहित्य-शृङ्खला की एक कड़ी के रूप में देखना चाहिए। सामयिक राजनीति, समाजनीति तथा अर्थनीति से भी साहित्य का दिशा-निर्देशन होता है। किन्तु इनके मोटे-मोटे कारणों से साहित्य की परख नहीं की जा सकती। तात्कालिक राजनीति, समाजनीति तथा अर्थनीति से जन-जीवन में जो उत्थान-पतन होता है साहित्य पर उसका स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। इन्हीं दोनों तत्त्वों के आधार पर उक्त प्रभाव के कारणों का हम संक्षिप्त विश्लेषण करेंगे।

सन् ईसवी की दसवीं शताब्दी के पश्चात् संस्कृत-नाटकों में ह्रासोन्मुखता आ जाती है। मौलिकता की दृष्टि से तो यह काल दरिद्र है ही, परम्परा-निर्वाह की दृष्टि से भी इस काल के नाटककार समर्थ नहीं प्रतीत होते। इस काल में प्राणहीन नाटकों की भरमार है। मुरारि, राजशेखर, जयदेव, क्षेमीश्वर आदि कुछ उल्लेखनीय नाटककारों की कृतियों में नाटकीय तत्त्वों का पूर्ण अभाव है। मुरारि के 'अनर्घ राघव' था महत्व केवल कविता की दृष्टि से आँका जा सकता है। इसके कवित्व में भी प्रभातकालीन ऊष्मा नहीं है, अस्तोन्मुखी सूर्य की पीत आभा है। राजशेखर का महाकाय 'बाल रामायण' कविताओं से भरा पड़ा है। अपने कथानक के अनगढ़पन तथा अनुपात के अनौचित्य के कारण यह काफी कुख्यात हो चुका है। इस काल के प्रायः सभी नाटकों में कथानक की शिथिलता तथा वर्णनात्मक कविताओं और प्रगीत मुक्तकों की बहुलता मिलती है। ये नाटक चरित्र, संवाद, अन्तर्द्वन्द्व आदि सभी दृष्टियों से खोखले हैं। हिन्दी के नाटककारों को

संस्कृत साहित्य की यही पिछली परम्परा मिली। बनारसीदास का समय सार-नाटक (सं०१६६३), प्राणचन्द चौहान का रामायण महानाटक (सं० १६६७), रघुराय नागर का समासार (सं०१७५७) और लच्छिराम का करुणा भरण (सं० १७७२) प्रायः छन्दोबद्ध हैं।

हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भिक काल प्रत्येक दृष्टि से बड़ा अव्यवस्थित रहा है। मुसलमान आक्रमणकारियों ने राजाओं को ही पदाक्रान्त नहीं किया, जनता की भी निर्मम हत्या की। हिन्दू-सामन्तों द्वारा शोषित जनता का दुहरा शोषण हुआ। रुपए-पैसे के साथ ही उनकी खेती बारी भी नष्ट होती रही। ऐसी अस्थिरता और भागदौड़ में नाटकों की क्या सृष्टि होती? सोलहवीं शताब्दी में सन्तों ने हमारी जड़ता को गहरा धक्का दिया। देश में चेतना की लहर दौड़ गई। वैष्णव आन्दोलन कुछ सन्त-महात्माओं तक सीमित न रहकर जन-जीवन तक पहुँचा। इस आन्दोलन ने जनता को रासलीला और रामलीला के रूप में जन-नाट्यशालाएँ भी दीं। इन्हीं रंगमंचों द्वारा कृष्ण और राम की लोकप्रिय कहानी जन-जन तक पहुँची। सूर और तुलसी की कविताओं को झोपड़ियों तक पहुँचाने का श्रेय इन रंगमंचों को भी है। लोक संग्रह की भावना से ओत-प्रोत रहने के कारण रामलीला उत्तर-भारत के कोने-कोने तक व्याप्त हो उठी। हिन्दी का रीतिकाल अजीब प्रतिक्रिया का युग है। चिन्तनहीनता अपनी सीमा पर पहुँच चुकी थी। कवियों और जनता में दुर्लंध्य खाई पड़ गई थी। संस्कृत नाटकों की पिछली परम्परा का भी प्राण-स्रोत सूख गया था। ऐसी स्थिति में इस काल में नाट्य-रचना की आशा दुराशा-मात्र है।

नया उन्मेष

मध्यकालीन सामन्तीय व्यवस्था के खण्डहर पर अंग्रेजों ने पूँजीवादी व्यवस्था का महल खड़ा किया। अंग्रेज इस देश में व्यापार करने के उद्देश्य से ही आये हुए थे। राज्य स्थापित कर लेने के बाद भारतीय बाजारों पर भी इनका एक तरह से एकाधिकार हो गया। अंग्रेजों की देखा-देखी बम्बई का पारसी वर्ग भी इस दिशा में काफी आगे बढ़ा और रुपया कमाने का नया-नया ढंग निकालने लगा। पारसी थियेटरों की स्थापना धनार्जन का नया ढंग ही है। पारसी थियेटर का रंगमंच शेक्सपियर के समय के रंगमंच के आधार पर निर्मित हुआ।

पाश्चात्य विचारों के सम्पर्क में आने पर जीवन के प्रति एक नया दृष्टिकोण मिला। पूर्वी और पश्चिमी विचारधाराओं की टकराहट से जीवन के नवीन स्फुलिंग पैदा हुए। राजाराममोहन राय तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती सांस्कृतिक जागृति के अग्रदूत थे। एक ने पाश्चात्य विचारों के प्रति अत्यधिक उदार होते हुए भी भारतीय संस्कृति को ही अपने समाज की आधारशिला माना। दूसरा अपनी संस्कृति को सब-कुछ स्वीकार करते हुए भी जर्जर रूढ़ियों को सर्वदा तिरस्कृत करता रहा। नई शिक्षा से लोगों के संकीर्ण विचारों में परिवर्तन हुआ। अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क में आने से साहित्य में भी नवीन चेतना उत्पन्न हुई। सन् १८५७ के बाद से अंग्रेजी नीति में जो परिवर्तन घोषित किया गया जनता पर उसका अच्छा प्रभाव पड़ा। फलस्वरूप अंग्रेजों की प्रशंसा के गीत भी गाये गए। किन्तु अंग्रेजों को अर्थनीति बहुत दिनों तक छिपी न रह सकी। देशव्यापी अकाल तथा कर-भार से बोझिल जनता चिल्ला उठी। भारतेन्दु-युगीन संवेदनशील लेखकों, कवियों, नाटककारों आदि ने जनता की व्यथा को वाणी प्रदान की।

भारतेन्दु का उदय हिन्दी-साहित्य के लिए एक असाधारण घटना है। भारतेन्दु के सजग व्यक्तित्व ने जागरण के सभी तत्त्वों को आत्मसात् कर लिया। देश की आशा-आकांक्षाओं को नाटकों

के माध्यम से पहले-पहल उन्हीं ने प्रकट किया। पारसी थियेटर का शुद्ध व्यावसायिक दृष्टिकोण देश में सांस्कृतिक कुरुचि बढ़ा रहा था। उर्दू कविता की शोखी और बाजारू गानों से भरे पारसी नाटक पूँजीपतियों के लिए द्विगुणित लाभप्रद सिद्ध हुए। इन नाटकों से पारसी कम्पनियों के मालिकों को खूब लाभ हुआ। तात्कालिक जन-जागरण को, जो अन्ततोगत्वा उन मालिकों के हितों पर कुठाराघात करने वाला सिद्ध होता, एक प्रतिक्रियावादी अक्रियमाण दिशा की ओर मोड़ने का प्रयास किया गया। भारतेन्दु पारसी कम्पनियों की इस प्रवृत्ति से पूर्ण अवगत थे। इसलिए जनता का रुचि-परिष्कार उनकी नाट्य-रचना का पहला लक्ष्य रहा।

भारतेन्दु ने अपने नाटकों की कथावस्तु जीवन के विविध क्षेत्रों से ली। किसी नाटक में ऐकान्तिक प्रेम का निरूपण किया गया है तो किसी में समसामयिक सामाजिक तथा धार्मिक समस्याओं का चित्रण; कहीं ऐतिहासिक और पौराणिक वृत्त के आधार पर नाटक का ढाँचा खड़ा किया गया है तो कहीं देश की दुर्दशा का मार्मिक चित्र उपस्थित किया गया है। भारतेन्दु के पूर्व नाटकों के सीमित विषय की दीवारें टूट गईं और विषय-भूमि को पूरा विस्तार मिला। नीलदेवी और सती प्रताप में इतिहास और पुराण की वे उज्ज्वल गाथाएँ हैं जिनके आलोक में पाश्चात्य संस्कृति की चकाचौंध से विपथगामिनी आर्य ललनाएँ अपना मार्ग पहचान सकती हैं। यह वास्तव में पाश्चात्य संस्कृति के विरोध में सांस्कृतिक जागरण का चिह्न है। कुछ लोग इसे जीवन के प्रति पलायनवादी रोमानी दृष्टि कहते हैं। वस्तुतः अतीत की स्वस्थ कथाओं और उदात्त चरित्रों से शक्ति संयम करना ही इनका मुख्य उद्देश्य है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' की भूमिका में उन्होंने स्पष्ट लिख दिया है कि यदि पाठक के चरित्र में इससे कुछ भी सुधार हुआ तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा। शालग्राम का 'मोर ध्वज', भवदेव उपाध्याय का 'सुलोचना सती' आदि पौराणिक नाटक तथा राधाकृष्णदास का 'महाराणा प्रताप' तथा श्री निवासदास का 'संयोगिता स्वयंवर', प्रतापनारायण मिश्र का 'हठी हमीर' आदि ऐतिहासिक नाटक मूलतः उद्बोधनात्मक हैं।

'प्रेम-जोगिनी' में भारतेन्दु ने अनेक प्रकार की सामाजिक समस्याओं का संकेत किया है। इस काल के अन्य नाटककारों ने बहुत-सी तत्कालीन समस्याओं को अपने नाटकों का विषय बनाया, जैसे, बाल-विवाह, स्त्री-असहायता, गो-वध, पाश्चात्य आचार-नीति आदि। राधाकृष्णदास का दुखिनी बाला, प्रतापनारायण मिश्र का 'गो संकट' ऐसे ही नाटक हैं।

भारतेन्दु ने 'भारत दुर्दशा' में राष्ट्र-प्रेम की भावना जगाई। भारतेन्दु तथा इस काल के अन्य कवियों की कविताओं में राष्ट्र-प्रेम और शासक-प्रेम का जो विरोधाभास दिखाई पड़ता है वह नाटकों में भी उसी रूप में चित्रित हुआ है। 'भारत दुर्दशा' के प्रारम्भ में ही यह निवेदन कर दिया गया है—'अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी। पै धन विदेश चलि जात इहै अतिख्वारी।' इस बात से सभी लोग अवगत हैं कि सारा धन विदेश चला जा रहा है फिर भी उन्हें महारानी विक्टोरिया के न्याय और औचित्य पर विश्वास है। दूसरे अंक में भारत कहता है—'परमेश्वर वैकुण्ठ में और राजराजेश्वरी सात समुन्द्र पार, अब मेरी कौन दशा होगी ?' पाँचवें अंक में कुछ लोग भारत-दुर्दशा से बचने की मन्त्रणा करते हैं। किन्तु डिसलायल्टी का भय उनकी योजनाओं को कार्यरूप में परिणत नहीं होने देता। अन्त में भारत-भाग्य भी परमात्मा व राजराजेश्वरी की पुकार लगाकर विदा होता है; और भयानक निराशावादिता के साथ नाटक का पर्यवसान होता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'भारत-दुर्दशा नाटक' के आधार पर प्रेमघन जी ने 'भारत सौभाग्य'

नाटक लिखा। इसमें भारत नायक और बद इकबालए हिन्द प्रतिनायक है। अन्त में भारत अपने प्रतिनायक का आश्रय ग्रहण करने में ही अपना सौभाग्य समझता है। अँग्रेजों के सद्भाव की छलना भारतीय वातावरण को बहुत दिनों तक घेरे रही। भारतीय कांग्रेस में भी इस तरह के विश्वास के लोगों की कमी नहीं थी। इन नाटकों में देश की राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था का भावात्मक चित्र उपस्थित किया गया है।

जीवन में व्यंग्य और विनोद का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। रात-दिन गुरु-गम्भीर कार्यों में लगे रहने के कारण विनोद और भी अधिक प्रिय मालूम पड़ता है। अच्छा प्रहसन व्यंग्य होता है। जीवन और समाज की असंगतियों की पकड़ के लिए जिसकी दृष्टि जितनी पैनी होगी वह उतना अच्छा प्रहसनकार होगा। भारतेन्दु की 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में मांस-भक्षियों के तर्कों पर व्यंग्य है। 'अंधेर नगरी' एक अव्यवस्थित राज्य पर करारी चोट है। इनके काल में अन्य बहुत से प्रहसन लिखे गए—जैसे। बालकृष्ण भट्ट का शिक्षादान, प्रतापनारायण मिश्र का 'कलि कौतुक रूपक', राधाचरण गोस्वामी का 'बूढ़े मुँह मुँहासे'। इन परवर्ती लेखकों में भारतेन्दु-जैसी प्रतिभा का अभाव था। अतः इनके प्रहसन में वैसा तीखापन नहीं है। इस युग में अनुवादों की परम्परा भी चलती रही। इस सम्बन्ध में लाला सीताराम, रामकृष्ण वर्मा, आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

शैली की दृष्टि से भारतेन्दु के नाटक बहुत कुछ संस्कृत नाटकों की पद्धति के अनुवर्ती हैं। संस्कृत नाटकों का प्रारम्भ नांदी-पाठ से होकर भरतवाक्य पर समाप्त होता है। इनके प्रारम्भिक नाटकों में यह पद्धति हू-ब-हू स्वीकार कर ली गई है। कुछ नाटकों में अंकावतार और विष्कंभक की योजना भी मिलेगी। चन्द्रावती में स्वगत का आवश्यकता से अधिक प्रयोग किया गया है। कहीं-कहीं कथोपकथन भी लम्बे हो गए हैं। पारसी नाटक शैली का प्रभाव भी जहाँ-तहाँ दिखाई पड़ता है। शैली की दृष्टि से इस पूरे काल में नाटकों का अपेक्षित विकास न हो सका। बालकृष्ण भट्ट, खड्गबहादुर मल्ल, राधाकृष्णदास आदि के नाटकों के कथानक अत्यन्त शिथिल हैं। चरित्रों का व्यक्तित्व नाटककारों के व्यक्तित्व से लिपटा रह गया, उनकी स्वतन्त्र स्थिति नहीं बन सकी। संस्कृत का स्वगत-भाषण और काव्यात्मक वातावरण भी बहुत-कुछ ज्यों-का-त्यों रह गया। रीतिकालीन कविता के प्रभाव से चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति भी बढ़ी। हाँ जहाँ तक वस्तु-चयन की विविधता तथा सामान्य पात्रों के चुनाव का प्रश्न है इस काल के नाटक संस्कृत की घिसी-पिटी परिपाटी को काफी पीछे छोड़ चुके थे।

सुधारवादी युग

प्रवृत्ति की दृष्टि से विचार करने पर महावीरप्रसाद द्विवेदी का समय सुधारवादी युग कहा जा सकता है। आर्यसमाजी नैतिकता का प्रभाव तो द्विवेदीजी पर पड़ा ही था, राजनीति के क्षेत्र में भी महात्मा गांधी की सात्विकता और उच्च नैतिकता का स्वर जादू की तरह प्रभावशाली बन चुका था। इस युग के लेखकों ने वस्तु और शैली दोनों दृष्टियों से साहित्य में सुधार करने की चेष्टा की। यद्यपि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके मण्डल के लेखकों ने गद्य में काफी लिखा फिर भी गद्य की प्रतिमिति स्थिर न हो सकी। पद्य की भाषा के लिए खड़ी बोली और ब्रजभाषा में किसको ग्रहण किया जाय इसका अन्तिम निर्णय नहीं हो पाया था। द्विवेदीजी तथा उनके अनुगामियों का सारा समय इन्हीं बातों के सुलझाने में लगा रहा। भाषा-संस्कार तथा खड़ी बोली के

निखार-परिष्कार के लिए इस युग का बड़ा महत्त्व है। सुधारवादियों से मौलिक उद्भावनाओं तथा क्रान्तिकारी परिवर्तनों की अपेक्षा भी नहीं करनी चाहिए। वास्तव में द्विवेदीजी का महत्त्व इसी सुधार-परिष्कार के लिए है। नाटक के विकास को देखते हुए इस काल के पार्थक्य की कोई आवश्यकता नहीं है। भारतेन्दु युग की प्रवृत्तियाँ ही इस काल में चलती रहीं। केवल सुविधा की दृष्टि से ही इस काल को अलग कर दिया गया है।

भारतेन्दु युग की अपेक्षा इस काल में ऐतिहासिक नाटक संख्या में अधिक रचे गए। विषयों के चुनाव का विचार करने पर यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि जीवन पर सात्विक प्रभाव छोड़ने वाले नायकों के ग्रहण पर विशेष दृष्टि रही है। जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का 'तुलसीदास', वियोगी हरि का 'प्रबुद्ध यामुने', मिश्रन बन्धु का 'शिवाजी' आदि इसी प्रकार के नाटक हैं। 'कर्बला' द्वारा प्रेमचन्दजी ने मुसलमानी संस्कृत पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करने का कदाचित् पहला प्रयास किया। सामाजिक नाटकों के लिए बाल-विवाह, वृद्ध विवाह, मुकद्दमेबाजी आदि विषय चुने गए। प्रहसन के लिए अब और व्यापक क्षेत्र मिला। नए वातावरण में बद्रीनाथ भट्ट ने नए विषयों का चुनाव किया। 'विवाह विज्ञापन' और 'मिस अमेरिका' ऐसे प्रहसनों में हैं। पहले में पाश्चात्य ढंग की कृत्रिम साज-सज्जा (मेकअप) और रूप पर व्यंग्य है। पति को जूते से पिटवा-कर लेखक अपने स्तर को काफी नीचे गिरा देता है। 'मिस अमेरिका' में प्रकारान्तर से रीतिकालीन अश्लील कविताओं पर व्यंग्य किया गया है। जी० पी० श्रीवास्तव के प्रहसनों का स्तर भी काफी नीचा है।

प्रसाद का आविर्भाव (विकास के विविध मार्ग)

भारतेन्दु के बाद प्रसाद-जैसी सर्वांगीण प्रतिभा का रचनात्मक व्यक्तित्व दूसरा नहीं उत्पन्न हुआ। नाटकों का उन्होंने नवीन शैली से शृङ्गार किया। किन्तु इस साज-सज्जा की औपचारिकता के कारण वे नाटकों की नई दिशा के निर्देशक नहीं ठहराए जा सकते। अब तक के हिन्दी-नाटकों के पात्र लेखक के व्यक्तित्व की छाया-मात्र थे, परन्तु प्रसाद ने उन्हें स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान किया। प्रसाद ने पात्रों के शील-निरूपण का जो प्रयास अपने नाटकों में किया हिन्दी के लिए वह एक अति महत्त्वपूर्ण बात थी। हिन्दी-नाटकों का बहुत अधिक विकास हो जाने पर भी शील-निरूपण के प्रथम पुरस्कर्ता होने के कारण उनका ऐतिहासिक महत्त्व अक्षुण्ण रहेगा।

यद्यपि प्रसाद ने मुख्य रूप से ऐतिहासिक नाटक ही लिखे तथापि अन्य प्रकार के नाटकों का भी मार्ग-निर्देशन किया। 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' आदि ऐतिहासिक नाटक हैं। 'जनमेजय का नागयज्ञ' पौराणिक नाटक है। 'ध्रुव स्वामिनी' ऐतिहासिक होते हुए भी मूलतः समस्या-नाटक है। 'कामना' अन्यापदेशिक नाटक है। 'एक घूँट' को कुछ आलोचकों ने हिन्दी का प्रथम एकांकी माना है। गीतिनाट्य के क्षेत्र में भी वे ही अग्रणी ठहरते हैं। 'करुणालय' हिन्दी का पहला गीति-नाट्य है।

(क) ऐतिहासिक

"इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को आपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यन्त लाभदायक ज्ञात होता है।...क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारी जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमें मुझे पूर्ण सन्देह है।...मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश

में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत प्रयत्न किया है।" 'विशाख' की भूमिका में उपर्युक्त विचार प्रकट करके प्रसाद ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया है। उक्त कथन से हम तीन निष्कर्ष निकालते हैं—(१) ऐतिहासिक घटनाएँ हमारे आदर्श को संघटित करने के लिए लाभदायक हैं अर्थात् वे साधन हैं साध्य नहीं; (२) जलवायु के अनुकूल होने के कारण हमारी सांस्कृतिक परम्परा के मेल में हैं और (३) उन परिस्थितियों के अंकन का प्रयत्न किया गया है जो हमें आज की स्थिति में ले आने के लिए उत्तरदायी हैं।

अपने नाटकों के लिए प्रसाद ने ऐतिहासिक घटनाओं की जो सीमाएँ तैयार कर ली हैं उनके मूल कारणों की विवेचना की जा चुकी है। इन सीमाओं में बँधे रहने के कारण उनकी कल्पना स्वच्छन्द विहार के लिए उपयुक्त वातावरण नहीं पा सकी। फिर भी इतिहास की कड़ियाँ मिलाने के लिए उन्होंने स्वतन्त्र अनैतिहासिक पात्रों और घटनाओं की योजनाएँ प्रस्तुत की हैं। देवसेना, विजया, जयमाला, मन्दाकिनी आदि ऐसे ही पात्र हैं। भटार्क और अनन्त देवी का सम्बन्ध-स्थापन, तक्षशिला के गुरुकुल में चाणक्य और चन्द्रगुप्त का सामीप्य ऐसी योजनाएँ हैं जिनका कोई ऐतिह्य प्रमाण नहीं है।

प्रसाद कोरे ऐतिहासिक नाटककार नहीं हैं। उन्होंने ऐतिहासिक पृष्ठभूमियों पर भारतीय संस्कृति के प्रभावोत्पादक चित्रों को खूब उभारकर अंकित किया है। इसका मतलब यह नहीं है कि प्रसाद सांस्कृतिक पुनरुत्थानवाद के समर्थक हैं। उनके तत्कालीन सांस्कृतिक चित्रों में वर्तमान और भविष्य के लिए भी जीवन्त सन्देश हैं। देशभक्ति और राष्ट्रीयता का भी उनके नाटकों में पूरा-पूरा समावेश हुआ है। विभिन्न संस्कृतियों का पारस्परिक संघर्ष तथा अवान्तर संस्कृतियों के वैषम्य को दिखाते हुए भी वे मूलवर्तिनी भारतीय सांस्कृतिक धारा को बनाए रखने में पूर्ण समर्थ दिखाई पड़ते हैं।

भारतीय नाटकों में दुःखान्त नाटकों के लिए कोई स्थान नहीं है। प्रसाद ने भी इस परिपाटी का निर्वाह किया है। फलस्वरूप उनके नाटकों में आशावादिता का सन्देश सर्वत्र दिखाई पड़ेगा। नियतिवाद से अत्यधिक अभिभूत होने के कारण वे आशावादिता को आधुनिक अर्थ में नहीं ग्रहण कर पाए हैं। स्कन्दगुप्त में नियतिवाद अपने पूरे उत्कर्ष पर है। पूरे नाटक पर अवसाद की धुन्ध छाई दिखाई पड़ती है। फिर भी नाटक का पर्यवसान इस दृष्टि से आशामूलक है कि स्कन्द हूणों को पराजित तथा निष्कासित करने में सफल होता है।

प्रसाद ने चरित्र-निरूपण पर विशेष जोर देकर अब तक चली आती हुई रस-प्रधान नाट्य-धारा को एक जबरदस्त मोड़ दिया है। अनेक प्रकार की परिस्थितियों के बीच अपने पात्रों को खड़ा करके उन्होंने जिन अन्तर्द्वन्द्वों का विधान किया है वे आधुनिक मनोविज्ञान के सर्वथा अनुकूल हैं। विरोधी विचार वाले पात्रों की सृष्टि से संघर्ष की योजना में अधिक सहायता मिली है। स्कन्दगुप्त, भटार्क, अजात शत्रु, बिंबसार भिन्न-भिन्न मनोदशाओं को व्यक्त करते हैं। चाणक्य का चरित्र प्रसाद की सर्वोत्कृष्ट सृष्टि है। इतना सशक्त व्यक्तित्व, दृढ़ इच्छा-शक्ति, अदम्य उत्साह तथा प्राणवत्ता अन्यत्र नहीं मिलती। नारी-चरित्रों की अनेकविधि कल्पना के वे अद्भुत स्रष्टा थे।

संस्कृत नाटकों का काव्यात्मक वातावरण प्रसाद के नाटकों में भी पाया जाता है। प्रसाद

मूलतः कवि हैं। उनका कवि क्या नाटक क्या कहानी सर्वत्र विद्यमान रहता है। कवि की भावुकता ने उन्हें यथार्थवादी भूमि पर नहीं उतरने दिया। प्रसाद के अधिकांश पात्र भावुक हैं। यह भावुकता पात्रों के भाषणों तथा कार्य-पद्धतियों में भी पाई जाती है। नाटकों में यथार्थवादी शैली ले आने का कार्य लक्ष्मीनारायण मिश्र ने किया।

रंगमंच की दृष्टि से प्रसाद के प्रतिनिधि नाटक अभिनेय नहीं हैं। घटना-विस्तार, लम्बे दार्शनिक भाषण, भाषा की क्लिष्टता, स्वगत-कथन की अस्वाभाविकता आदि अनेक ऐसी बातें हैं जो अभिनेता के मार्ग में भयानक बाधा उपस्थित करती हैं। सम्भवतः प्रसाद जी अपनी इन त्रुटियों से अवगत थे। इसीलिए ध्रुवस्वामिनी लिखते समय उन्होंने रंगमंच को पूरी तरह अपनी दृष्टि में रखा।

ऐतिहासिक नाटककारों में हरिकृष्ण 'प्रेमी', उग्र, गोविन्दवल्लभ पन्त, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास प्रमुख हैं। गणना के लिए मिलिन्द का नाम भी जोड़ा जा सकता है। प्रेमी ने अपने नाटकों की कथा-वस्तु भारत के मध्यकालीन इतिहास से ग्रहण की है। अपने अभी-अभी प्रकाशित 'शपथ' में उन्होंने हूणकालीन कथावस्तु ली है। किन्तु प्रेमी की ख्याति उनके 'रक्षा-बन्धन' तथा 'शिवा-साधना' नाटकों पर ही आश्रित है। प्रेमी के नाटकों में हिन्दू-मुसलिम-ऐक्य और सौहार्द की अभिव्यंजना बड़ी मार्मिक पद्धति पर हुई है। इसके लिए अनुकूल कथावस्तु का चुनाव तथा प्रतिपादन की स्वाभाविकता दोनों समान रूप से दायी हैं। प्रेमी ने प्रसाद की अलंकृति-शैली नहीं अपनाई है। प्रसंगानुकूल सम्वाद-योजना में प्रेमी काफी कुशल हैं। प्रसाद की भाँति दार्शनिकता के भार से इनके नाटक बोझिल नहीं हैं। नाटक के बाह्य पक्ष में प्रेमी ने प्रसाद की अपेक्षा अधिक स्वाभाविकता का आश्रय लिया है। किन्तु नाटक के आन्तरिक औदात्य और अन्तर्द्वन्द्व की जो गम्भीरता प्रसाद के नाटकों में है वह प्रेमी के नाटकों में कहीं भी नहीं आ पाई है। उग्र का 'महात्मा ईसा' रंगमंच की दृष्टि से सफल माना जा सकता है किन्तु इसकी ऐतिहासिकता त्रुटिपूर्ण है। उदयशंकर भट्ट का 'दाहर वा सिन्ध पतन' और 'विक्रमादित्य' ऐतिहासिक नाटक हैं। 'सिन्ध-पतन' नाटक में नाना प्रकार के अन्तर्विरोध दाहर के पतन के कारण बताए गए हैं। भट्ट जी के विचार से यह हिन्दी का पहला दुःखान्त नाटक है, किन्तु भारतेन्दु की 'नील देवी' इस पद पर प्रतिष्ठित हो चुकी है। गोविन्दवल्लभ पन्त के 'राजमुकुट' का सारा विन्यास बड़ी ऋजु पद्धति पर चला है। सेठ गोविन्ददास का 'हर्ष' भी अच्छा ही नाटक है।

(ख) पौराणिक और सामाजिक

प्रसाद के पौराणिक नाटक 'जनमेजय का नाग यज्ञ' का उल्लेख किया जा चुका है। इसमें महाभारत के महायुद्ध के पश्चात् परीक्षितकालीन कथानक लिया गया है। इसमें आर्यों-अनार्यों के आदर्शों और संस्कृतियों के संघर्ष और समन्वय का चित्र उपस्थित किया गया है। सुदर्शन, गोविन्दवल्लभ पन्त, माखनलाल चतुर्वेदी, गोविन्ददास, उग्र और उदयशंकर भट्ट की कुछ कृतियाँ पौराणिक नाटकों के अन्तर्गत आती हैं। सुदर्शन ने अपनी 'अंजना' में पौराणिक पात्रों को मानवीय स्तर पर उतारने का स्तुत्य प्रयास किया है। सम्भवतः ऐसा करने के लिए उन्हें बंगला के प्रख्यात नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय से प्रेरणा मिली है। गोविन्दवल्लभ पन्त की 'वरमाला' का कथानक मार्कंडेय पुराण से लिया गया है। सारे नाटक का वातावरण रोमानी है। कथोपकथन प्रसंगानुकूल तथा सरल है। रंगमंच की दृष्टि से यह बड़ा सफल नाटक है। उग्र का 'गंगा का

बेटा' नाटकीय दृष्टि से साधारण नाटक है। पौराणिक धारा के प्रतिनिधि लेखक उदयशंकर भट्ट हैं। 'अम्बा', 'सगर-विजय' इनके प्रमुख पौराणिक नाटक हैं। 'अम्बा' में नारीत्व की चेतना का पूरा-पूरा आकलन हुआ है, 'सगर-विजय' राष्ट्रीय भावनाओं से अनुप्राणित नाटक है। इन्होंने अपने पौराणिक पात्रों के भीतर नवयुग के सामाजिक संघर्षों को देखा है।

इस युग के पौराणिक नाटकों तथा भारतेन्दु-द्विवेदी युग के पौराणिक नाटकों के बीच एक स्पष्ट विभाजक रेखा खींची जा सकती है। भारतेन्दु-द्विवेदी युग के पौराणिक नाटकों में मौलिक उद्भावना की नितान्त कमी है। पौराणिक वातावरण को नवयुग के प्रकाश में देखने का प्रयास वहाँ नहीं मिलेगा। अति प्राकृत पौराणिक प्रसंगों, अतिरंजित घटनाओं और अयथार्थ दृश्य-विधानों से भरे नाटकों से दूर हटकर इस काल में उन्हें मानवीय धरातल पर देखने का प्रयास किया गया है। इसे आज की बौद्धिकता का आग्रह ही समझना चाहिए। अच्छे सामाजिक नाटकों का हिन्दी में अभाव-सा ही है। उग्र के 'चुम्बन' में अश्लीलता का काफी उभार है। गोविन्दवल्लभ पन्त का 'अंगूर की बेटी' साधारण नाटक है। सेठ गोविन्ददास का 'प्रकाश', 'पाकिस्तान' उदयशंकर भट्ट का 'कमला', 'अन्तहीन अन्त' सामाजिक नाटक हैं।

(ग) अन्यापदेशिक नाटक

अन्यापदेशिक नाटकों को कुछ लोगों ने प्रतीकात्मक नाटक भी कहा है। किन्तु प्रतीक और अन्यापदेश के अर्थ में मौलिक अन्तर है। अन्यापदेश अंग्रेजी के एलोगेरी का समानार्थी है। अन्यापदेश तथा प्रतीक दोनों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत में धर्म अथवा प्रभाव का साम्य होता है। अन्यापदेश में कभी-कभी भाव या मनोवेग का मानवीकरण भर कर दिया जाता है, उसके स्थान पर प्रतीक का विधान नहीं दिया जाता। उदाहरण के लिए प्रसाद की 'कामना' का उल्लेख किया जा सकता है। पन्त की 'ज्योत्स्ना' में प्रतीक-पद्धति अवश्य अपनाई गई है, किन्तु ये प्रतीक परम्परा-गृहीत प्रतीक नहीं हैं। अर्थ की व्यापकता की दृष्टि से इस प्रकार के नाटकों को अन्यापदेश की कोटि में रखना अधिक समीचीन है।

इस कोटि में प्रसाद की 'कामना' और पन्त की 'ज्योत्स्ना' दो ही नाटक आते हैं। संस्कृत में 'प्रबोध चन्द्रोदय' इस ढंग का बड़ा प्रसिद्ध नाटक लिखा जा चुका है। प्रसाद की 'कामना' में 'सन्तोष', 'विनोद', 'कामना' आदि मनोभाव मानवी क्रिया-कलापों द्वारा उक्त भावों की अभिव्यक्ति करते हैं। इसमें स्वर्ण और मदिरा के प्रचार द्वारा तारा की भोली सन्तानों में विलास, प्रवंचना, उच्छृंखला आदि का बीज-वपन किया जाता है। इसका फल यह होता है कि उन सन्तानों के देश की सुख-शान्ति नष्ट हो जाती है। विदेशी संस्कृति की कुरीतियों से आक्रान्त भारतीय-संस्कृति की रक्षा ही इस नाटक का मुख्य ध्येय है। 'कामना' की अपेक्षा 'ज्योत्स्ना' की विचार-भूमि व्यापक है। 'ज्योत्स्ना' द्वारा इस संसार में स्वर्ग उतारने की बात कही गई है। 'कामना' की अपेक्षा इसका नाटकीय ढाँचा शिथिल है।

(घ) समस्या-नाटक

यूरोप में नाटकों के क्षेत्र में इब्सन का आविर्भाव एक नई दिशा का सूचक है। १९वीं शती के उत्तरार्ध में उसने नाटकों के क्षेत्र में ऐसी क्रान्ति उपस्थित कि शेक्सपियर के प्रभाव के स्थान पर एक बौद्धिक चेतना का उदय हुआ। उससे प्रेरणा ग्रहण करके शा ने समाज की पिटी परम्पराओं तथा सुदृढ़ रोमानी कल्पनाओं पर प्रबल कशाघात किया। हिन्दी में लक्ष्मीनारायण

मिश्र ने अनेक समस्या-नाटक लिखे। इस धारा के ये ही प्रतिनिधि लेखक हैं। शा की तल-स्पर्शनी दृष्टि, प्रतिपादन का ढंग, निर्मम व्यंग्य लक्ष्मीनारायण जी में नहीं है। शा ने परम्परा-मुक्त चरित्रों का सूक्ष्म अध्ययन किया और उनके स्थान पर रोमांस-हीन वास्तविक चरित्रों की प्रतिष्ठा की। इब्सन का मंच-निर्देशन, विल्डे की कथोपकथन-कुशलता दोनों का समावेश शा के नाटकों में हुआ है। कथोपकथन में स्वभाविकता और वाग्-वैदग्ध्य ले आने की कला उसने प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक हेनरी स्वीट से सीखी। मिश्र जी शा की तरह किसी परम्परा (कन्वेन्शन) पर चोट नहीं करते। उन्होंने प्रायः नारी की चिरन्तन समस्या ली है, जो आज की अति महत्त्वपूर्ण समस्या नहीं कही जा सकती। जिस बौद्धिक स्तर (इंटलेक्चुवल स्टैंड) की अपेक्षा समस्या-नाटकों में की जाती है, वह मिश्र जी में नहीं। भूमिकाओं में 'मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ' बार-बार स्पष्ट करने पर भी वे उस सीमा तक बुद्धिवादी नहीं है। इस अनवरत स्पष्टीकरण का मनोवैज्ञानिक अर्थ कुछ दूसरा ही है। फिर भी समस्या-नाटकों के क्षेत्र में मिश्र जी का ऐतिहासिक महत्त्व सुरक्षित रहेगा। यह भी सच है कि प्रसाद के बाद ये दूसरी प्रतिभा हैं।

शैली के क्षेत्र में इन्होंने प्रशंसनीय कार्य किया है। शा आदि के नाटकों की भाँति इनके नाटकों में भी तीन ही अंक होते हैं। गीत प्रायः नहीं होते, सभी घटनाएँ एक ही स्थान पर घटित होती हैं। आवश्यकतानुसार गीतों का विधान भी इन्होंने किया है, जैसे 'संन्यासी' की किरणमयी। संवादों में नाटकीय स्फूर्ति, लघुता और तीव्रता की ओर ध्यान दिया गया है। हिन्दी के पिछले नाटकों में इन बातों का अभाव है। संन्यासी, राक्षस का मन्दिर, मुक्ति का रहस्य, सिन्दूर की होली और आधी रात इनके समस्या-नाटक हैं। हिन्दी के कुछ और लेखक अपने नाटकों पर 'समस्या-नाटक' का लेबुल चिपकाए हुए दिखाई पड़ते हैं।

(ङ) गीति-नाट्य

अमानत की 'इन्दर सभा' को छोड़ दिया जाय तो प्रसाद का 'करुणालय' ही हिन्दी का प्रथम गीति-नाट्य ठहरता है। 'करुणालय' को गीति-नाट्य का ढाँचा-मात्र मानना चाहिए। इसमें नाट्य-तत्त्व नगण्य है। आधुनिक अर्थ में निराला का 'पंचवटी-प्रसंग' हिन्दी का प्रथम गीति-नाट्य है। वास्तव में 'पंचवटी-प्रसंग' की रचना हिन्दी में भद्दे कथोपकथन को दूर करने के लक्ष्य से ही की गई। कथोपकथन की स्वाभाविकता, नाटकीय कार्य तथा शील-वैचित्र्य सभी दृष्टियों से वह श्रेष्ठ गीति-नाट्य है। उदयशंकर भट्ट ने बहुत से पौराणिक प्रसंगों के आधार पर सुन्दर गीति-नाट्य लिखे हैं। 'विश्वामित्र', 'मत्स्य गन्धा' तथा 'राधा' उनके प्रसिद्ध गीति-नाट्य हैं। भट्ट जी बड़े सचेत कलाकार हैं। पौराणिक पात्रों के सहारे आज की विविध समस्याओं का निर्देश उनकी अपनी विशेषता है। मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों के विधान में भी वे निपुण हैं। कवि होने के कारण उनमें काव्यत्व भी यथेष्ट मात्रा में है। भगवतीचरण वर्मा का 'तारा' भी एक एकांकी-गीति-नाट्य हैं।

इधर पन्त जी के गीति-नाट्यों का एक संग्रह 'रजत शिखर' के नाम से प्रकाशित हुआ है। इस संग्रह में छः गीति-नाट्य हैं। ये अपने संक्षिप्त रूप में रेडियो से प्रसारित भी हो चुके हैं। इसमें नाटकीय प्रवाह तथा वैचित्र्य ले आने के लिए यति का क्रम गति के अनुरूप परिवर्तित कर दिया गया है। आलाप का भी यथेष्ट ध्यान दिया गया है। सभी नाट्य प्रतीकात्मक हैं। इनमें मानव-मन के ऊर्ध्व और समतल के सामंजस्य, आध्यात्मिकता और भौतिकता के समन्वय,

विश्व मानवतावाद आदि का सन्देश है। जहाँ तक विचारों का सम्बन्ध है, इस संग्रह में कोई नवीनता नहीं है। नई बोतल में पुरानी शराब ढाली गई है।

(च) एकांकी

प्रसाद के 'एक घूँट' के बाद भुवनेश्वरप्रसाद का 'कारवाँ' हिन्दी-एकांकी के क्षेत्र में एक नया प्रयोग था। 'कारवाँ' संग्रह की वस्तु तथा शैली, दोनों पर पाश्चात्य विचार-धारा की स्पष्ट छाप है। लेखक शा और इब्सन के विश्वासों तथा कला-रूपों से अत्यधिक प्रभावित ज्ञात होता है। समाज के रूढ़ वैवाहिक विश्वासों का उच्छेदन कारवाँ का प्रतिपाद्य है। भारतीय नैतिक मूल्यों की उपयोगिता पर विचार न करके विदेशी मूल्यों के चलन का आग्रह बौद्धिक दासता या शुद्ध प्रतिक्रिया का द्योतक है।

डॉ० रामकुमार वर्मा एकांकी नाटक के जन्मदाताओं में से हैं। वर्मा जी भारतीय आदर्शों में विश्वास रखते हैं। त्याग, दया, करुणा आदि सात्विक मनोवृत्तियों का सन्निवेश उनके नाटकों में हुआ है। वर्मा जी ने प्रायः सामाजिक और ऐतिहासिक एकांकी लिखे हैं। इनके मध्यवर्गीय पात्र सुशिक्षित और सुसंस्कृत नागरिक हैं। पृथ्वीराज की आँखें, रेशमी टाई, चारुमित्रा, सप्तकिरण, रूप-रंग इनके एकांकी नाटकों के संग्रह हैं।

हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने जिस तरह अपने नाटकों के लिए मध्यकालीन ऐतिहासिक कथाओं का सहारा लिया है उसी तरह एकांकी के लिए उसी काल की घटनाओं के मर्मस्पर्शी लघु सूत्रों को ग्रहण किया है। मध्यकालीन राजपूतो शौर्य, आत्माभिमान, आन-बान का चित्र अंकित करने में इन्हें कमाल हासिल है।

सेठ गोविन्ददास ने संख्या की दृष्टि से बहुत से नाटक लिखे हैं। गांधीवादी होने के कारण इनके नाटकों में गांधीवादी विचार-धारा सर्वत्र मिलेगी। समस्याओं की व्याख्या तथा उनका स्थूल हल ढूढ़ निकालने की सतर्कता उनमें सर्वत्र पाई जातो है, पर अनुभूति की तीव्रता तथा व्यंजकता का प्रायः अभाव है। सप्तरश्मि, चतुष्पथ, नवरस, स्पर्धा, एकादशी आदि इनके एकांकी-संग्रह हैं।

उदयशंकर भट्ट ने भी इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया है। उनकी दृष्टि में नाटकों में रस-संचार के अतिरिक्त किसी सुनिश्चित सामाजिक उद्देश्य का होना भी परमावश्यक है। उच्च और मध्यवर्ग की जीवन-विडम्बनाओं को चित्रित करके उन पर गहरी चोट करना इनकी प्रमुख विशेषता है। समस्या का अन्त, चार एकांकी आदि इनके एकांकी-संग्रह है।

उपेन्द्रनाथ अश्क आज के प्रमुख एकांकी नाटककारों में हैं। इन्होंने प्रायः मध्यवर्गीय जीवन की समस्याएँ ली हैं। इनके पात्र जाने पहचाने लगते हैं। पारिवारिक जीवन-समस्याओं के भीतर बैठकर उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने में ये सिद्ध कलाकार हैं। अश्क के सामाजिक व्यंग्य काफी तीखे हैं। देवताओं की छाया में, तूफान के पहले, चरवाहे आदि इनके एकांकी-संग्रह हैं।

उग्र, सद्गुरुशरण अवस्थी और गणेशप्रसाद द्विवेदी आदि ने भी इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया है। रंगमंच और प्रयोग की दृष्टि से जगदीशचन्द्र माथुर का 'भोर का तारा' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नये नाटककारों में विष्णु प्रभाकर ने भी नवीन सामाजिक दृष्टि से अच्छे एकांकी लिखे हैं। रेडियो स्टेशनों पर प्रसारित करने के लिए एकांकियों की माँग के कारण लक्ष्मीनारायण मिश्र, भगवतीचरण वर्मा और वृन्दावनलाल वर्मा भी इस क्षेत्र में आए। रेडियो

की माँग के कारण एकांकियों के ध्वनि-रूपक और ध्वनि-नाटक दो भेद भी हमारे सामने आये। इनमें रंगमंच का कार्य ध्वनि से लिया जाता है। ध्वनि-रूपक में बहुत-सा विवरण सूत्रधार या नैरेटर के माध्यम से दिया जाता है। ध्वनि-नाटक में सूत्रधार नहीं होता, श्रोता अभिनय की कल्पना भर करते हैं।

●

५

विजयशंकर मल्ल

हिन्दी निबन्ध

हिन्दी में निबन्ध का जन्म उस समय हुआ जब भारतीय समाज में एक नई सांस्कृतिक और राजनीतिक चेतना का उदय हो रहा था। ये निबन्ध उस समय की पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं और प्राय: उनके सम्पादक ही लेखक भी होते थे। उस समय की पत्रिकाओं में साधारण विषयों, सामयिक आन्दोलनों और कभी-कभी स्थानीय समाचारों की भी चर्चा रहती थी। ऐसी पत्र-पत्रिकाओं के साथ जिस साहित्य-रूप का जन्म का साथ हो उसके स्वभाव में पत्रकारिता की विशेषताओं की झलक आ जाना स्वाभाविक ही है। विषय का वैविध्य, सामाजिक और राजनीतिक जागरूकता, शैली की रोचकता और गाम्भीर्य, गौरव का अभाव आदि आरम्भिक निबन्धों के कुछ ऐसे ही गुण हैं जो पत्रकारिता से अधिक सम्बद्ध हैं। आरम्भिक निबन्धों के स्वरूप-निर्धारण में दूसरा हेतु है तत्कालीन लेखकों का अनेकमुखी सामाजिक व्यक्तित्व। इन लेखकों को अपने साहित्य के विविध अंगों को पुष्ट भी बनाना था, सामाजिक सुधार भी करना था, नाट्य-कला की ओर भी ध्यान देना था, शिक्षा-प्रसार की आवश्यकता भी बतलानी थी और राजनीतिक गति-विधि का निरीक्षण करके जनता को जागरूक भी बनाना था। इन सब कार्यों में लेखक-रूप में इनका सबसे अच्छा सहायक निबन्ध ही हो सकता था। सर्वाधिक सहायता निबन्ध से इन्होंने ली भी। खूब निबन्ध लिखे गए और इसीलिए भारतेन्दु-युग के साहित्य का सबसे उन्नत अंग शायद निबन्ध ही है।

भारतेन्दु से कुछ पहले का लिखा निबन्ध 'राज भोज का सपना' प्रसिद्ध है, जिसमें मनुष्य के झूठे अहंकार और कीर्ति-लिप्सा का रोचक ढंग से उद्घाटन किया गया है, पर हिन्दी में निबन्धों की परम्परा चलाने वाले भारतेन्दु ही हैं।

निबन्धकार समाज का भाष्यकार और आलोचक भी होता है इसलिए सामाजिक परिस्थितियों का जैसा सीधा और स्पष्ट प्रभाव निबन्धों पर दिखाई देता है वैसा अन्य साहित्य-रूपों पर नहीं। निबन्धकार बाह्य-जगत् से प्राप्त अपनी संवेदनाओं को शीघ्र ही, कम-से-कम परिवर्तित रूप में, यथासम्भव अन्य साहित्य-रूपों की अपेक्षा अधिक स्पष्टता से अपनी रचनाओं द्वारा प्रस्तुत करता है। उसका और पाठक का इतना सीधा सम्बन्ध होता है कि शैलीगत साज-सज्जा और कलात्मकता प्रदर्शित करने का उसे अधिक अवसर नहीं मिलता। अवश्य ही यह बात नैसर्गिक निबन्ध-लेखक के लिए कही जा रही है। साहित्य के अन्य रचना-प्रकारों के माध्यम से अपनी संवेदनाओं को प्रेषित करने के लिए जितने कलात्मक विधि-निषेधों का ध्यान रखना होता है उतने बन्धनों को मानने की जरूरत निबन्ध में नहीं होती। इसका शरीर बहुत लचीला है और लेखक की सुविधानुसार बराबर मुड़ जाता है, इसीलिए उन्नीसवीं सदी का भारत भारतेन्दु-युग के निबन्धों में अच्छी तरह प्रतिबिम्बित हुआ है।

इस काल के निबन्धों के विषय जीवन के अनेक क्षेत्रों से लिये गए हैं और तुच्छ-से-तुच्छ तथा गम्भीर-से-गम्भीर विषयों पर लेखकों ने लिखा है। उनमें चिन्तन-मनन की गहराई का अभाव चाहे मिले पर उनकी सामाजिक चेतना व्यापक थी। उनके निबन्धों में जो सजीवता और जिन्दादिली मिलती है वह आगे चलकर दुर्लभ हो गई। समयानुकूल विविध विषयों पर बिना किसी पूर्वग्रह के स्वच्छन्द होकर वे लोग आत्मीयता के साथ अपना हृदय पाठक के सामने खोल देते थे। वे बिना किसी संकोच के विदेशी शासकों या शोषकों को डाट-फटकार सकते थे तो अपने यहाँ के पण्डित-मुल्ला और पुराने शास्त्रकारों तक को उनकी कठहुज्जती पर बुरा-भला कह सकते थे। उन्होंने एक ओर आतुर या प्रवाह-पतित परिवर्तनवादियों और अंग्रेजी सभ्यता के गुलामों की खबर ली है तो दूसरी ओर नूतनता-भीरु रूढ़िवादियों की भी भर्त्सना की है। हिन्दी के इन आरम्भिक निबन्धों का रूप, प्रवृत्ति के विचार से, जातीय या राष्ट्रीय है। सच है कि उन निबन्धकारों ने जो-कुछ लिखा वह उस समय अधिक लोगों तक नहीं पहुँच पाता था। क्योंकि उनकी रचनाओं के प्रकाशन और प्रचार के साधन सीमित थे, पढ़े-लिखे लोगों में अंग्रेजी के सामने हिन्दी का उतना आदर न था पर उनकी दृष्टि बराबर पूरे समाज पर रही और उन्होंने जन-साधारण के लिए लिखा। वे सारी समस्याएँ जिन पर उनकी लेखनी चली है, गिने-चुने लोगों की समस्याएँ नहीं हैं बल्कि जनता की हैं।

इस युग में गद्य-शैली निर्माण के वैयक्तिक प्रयास हुए। भाषा की दृष्टि से तत्कालीन लेखकों में सामूहिक भाव (कारपोरेट सेंस) नहीं पाया जाता—ऐसा होना उस समय सम्भव भी नहीं था। पर प्रान्तीय लोकोक्तियों, मुहावरों और शब्दों से प्राणवान उनकी भाषा जनता की व्यावहारिक भाषा है। गद्य का कोई एक सर्वस्वीकृत रूप न होने से उनकी भाषा शिष्ट 'सार्वजनिक रूप' नहीं पा सकी थी, पर उसे समझ लेने में किसी हिन्दी-भाषा-भाषी को कठिनाई न थी, इसलिए भाषा की दृष्टि से भी उन लेखकों की रचनाओं को एक खास वर्ग या गोष्ठी का साहित्य नहीं कहा जा सकता।

अंग्रेजी में निबन्ध के पर्याय 'ऐसे' का अर्थ है प्रयास। भारतेन्दु-युग के निबन्ध सचमुच प्रयास ही हैं। उनमें न बुद्धि-वैभव है न पाण्डित्य-प्रदर्शन और न ग्रन्थ-ज्ञान-ज्ञापन। उन लेखकों की रुचि सभी विषयों में है पर किसी भी विषय में वे अन्तिम बात नहीं कहते, बल्कि पाठक के साथ सोचना-विचारना चाहते हैं। उनमें कुछ ऐसी आत्मीयता और बेतकल्लुफी है कि पाठक भी उनसे घुल-मिल जाना चाहता है।

प्राथमिक प्रयास

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के निबन्ध प्राथमिक प्रयास हैं जिनमें सच्चे निबन्ध के आवश्यक गुण विद्यमान हैं। उन्होंने राजनीतिक, सामाजिक और अन्य सांस्कृतिक विषयों पर अनेक पक्षों से निबन्ध लिखे हैं। अपनी रचनाओं में उन्होंने धर्म-सम्बन्धी 'बाह्य आग्रहों' और 'श्रद्धाजाड्य' का घोर विरोध किया है। उनके विचार से 'बाह्य व्यवहार और आडम्बर में न्यूनता' और 'एकता की भावना की वृद्धि' द्वारा ही देश और समाज की उन्नति सम्भव है। 'मेंहदावल' 'हरिद्वार' 'वैद्यनाथ की यात्रा'-जैसे निबन्धों में लेखक की निरीक्षण-शक्ति और वर्णन-क्षमता दर्शनीय है। स्थिर और गत्यात्मक दृश्यों के उन्होंने सजीव चित्र प्रस्तुत किये हैं। प्राकृतिक दृश्यों के ब्योरेवार चित्र उपस्थित करते समय जगह-जगह उनका भावोल्लास देखने ही योग्य है। इन यात्रा-सम्बन्धी

निबन्धों में भारतेन्दु की दृष्टि विभिन्न स्थानों के रीति-रिवाज, सरकारी नौकरों की धाँधली, रेलों की अव्यवस्था, सामाजिक अवनति आदि अनेक बातों की ओर गई है। परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि आलोचना की सामग्री और व्यंग्य के लक्ष्य उन्हें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मिल जाते थे अतः उनके सभी प्रकार के निबन्धों में व्यंग्य के छींटे अक्सर मिल जाते हैं। अपने व्यंग्यात्मक निबन्धों के लिए भारतेन्दु ने विलक्षण ढंग अपनाए हैं। कभी स्वप्न-चर्चा करते हैं, कभी स्तोत्र लिखते हैं, कभी नाटकीय दृश्य की भूमिका बाँधते हैं, कभी स्वर्ग में सभा की योजना करते हैं और कभी दूसरे उपाय काम में लाते हैं।

विषय और शैली की दृष्टि से भारतेन्दु के निबन्धों में पूरा वैविध्य है। इस क्षेत्र में इनकी नाटकीय शैली और स्तोत्र का ढंग व्यंग्य की प्रभावात्मकता की दृष्टि से उल्लेखनीय है। स्तोत्रों में विभिन्न सम्बोधनों और व्यंजक विशेषणों, विलक्षण आरोपों, रूपकों के अनोखे बन्धान और अतिशयोक्ति के द्वारा खूब चमत्कार आ गया है।

श्रेष्ठतर प्रयास

भारतेन्दु के बाद श्री बालकृष्ण भट्ट और श्री प्रतापनारायण मिश्र के द्वारा निबन्धों का अच्छा विकास हुआ। पं० प्रतापनारायण केवल प्रतिभा के जोर से लेखक बन बैठे थे। संस्कृत कला-रूप और मर्यादा आदि का विशेष ध्यान रखने वाले जीव ये न थे। इनके स्वभाव में जो मस्ती और मनमौजीपन है वह किसी दूसरे गद्य लेखक में नहीं मिलता। विनोद-रसिक प्रतापनारायण मिश्र की लेखनी पूर्ण स्वच्छन्द होकर चलती है इसीलिए उनकी भाषा में अकृत्रिम प्रवाह और सजीवता भी है और यत्र-तत्र ग्रामीणता की झलक भी। कहावतें और मुहावरे भी हैं और अनुप्रास तथा श्लेष का चमत्कार भी। अपनी बे-तकल्लुफी के कारण ये पाठक से पूरी आत्मीयता स्थापित कर लेते हैं। यदि निबन्ध की सच्ची परख उसकी बाहरी रूपरेखा से नहीं, उसकी अन्तरात्मा से होती है तो भारतेन्दु की मनमौजी स्वच्छन्द प्रकृति को अपनाकर अपनी व्यंग्य-विनोदमयी शैली में पं० प्रतापनारायण मिश्र ने जो निबन्ध लिखे हैं उनमें से अनेक का साहित्य की दृष्टि से ऊँचा स्थान है। उनके अधिक निबन्ध व्यक्तिनिष्ठ हैं। निबन्ध का विषय उनकी विचारधारा नियन्त्रित नहीं करता बल्कि उनकी विचार-धारा विषय पर नियन्त्रण रखती है। विषय जो जी में आया ले लिया फिर उसके माध्यम से रोचक ढंग से अपनी बातें कह दीं। 'दाँत' और 'भौं' ऐसे विषयों पर निबन्ध लिखते हुए देश-सेवा, समाज की उन्नति, विलायत-यात्रा, स्वधर्म और स्वभाषा-प्रेम आदि अनेक विषयों की चर्चा करते चलते थे। 'ट' को शुद्ध स्वार्थपरता से भरा हुआ देखना और 'टी' का अधिक प्रयोग करने वाले अँगरेजों की खबर लेना पं० प्रतापनारायण की ही सूझ थी।

'ब्राह्मण' के शब्दों में 'हिन्दी-प्रदीप' उसका 'श्रेष्ठ सहयोगी' है। सचमुच पं० बालकृष्ण भट्ट पं० प्रतापनारायण मिश्र के श्रेष्ठ सहयोगी हैं। मार्च सन् १६०० के 'प्रदीप' में भट्टजी ने नव-प्रकाशित 'सरस्वती' की गम्भीरता या नीरसता की आलोचना करते हुए लिखा था कि 'सच पूछो तो हास्य ही लेख का जीवन है। लेख पढ़ कुन्द की कली समान दाँत न खिल उठे तो वह लेख ही क्या।' पर स्वयं इनके लेखों में विनोदमयता, गम्भीर बात को सुबोध और रोचक ढंग से कहने की शैली-मात्र है। भट्ट जी विद्वान् थे, पं० प्रतापनारायण की तरह 'आप' की व्युत्पत्ति 'आप्त' से नहीं निकाल सकते, ग्रामीणता भी नहीं दिखा सकते, पर पाठक से आत्मीय ढंग से बात जरूर

करना चाहते हैं। भारतेन्दु की विचारात्मक या व्याख्यात्मक शैली को उन्होंने विकसित किया। कहीं-कहीं उनके निबन्धों में सुन्दर भावात्मक शैली भी मिलती है।

भट्ट जी एक प्रगतिशील विचारक हैं—अपने ही समय के हिसाब से नहीं, आजकल के हिसाब से भी। प्राचीन शास्त्रों में उनकी अन्धश्रद्धा कभी नहीं रही। समय के अनुसार वे स्वयं विचार करते हैं और प्रत्येक स्थिति में ग्रन्थ-प्रामाण्य को ही नहीं स्वीकार करते। 'स्त्रियाँ' शीर्षक निबन्ध में स्त्रियों को समाज में नीचा स्थान देने के लिए उन्होंने मनु को बुरा-भला कहा है। पश्चिमी सभ्यता की आँधी में देश के नवयुवक बह न जाँय इसके लिए 'परम्परा'-निर्वाह का समर्थन करते हैं पर 'संसार कभी एक-सा न रहा' में बतलाते हैं कि हमारे समाज की अवनति का मूल कारण हमारी परिवर्तन-विमुखता है। उनके विचार से 'निरे राम-राम जपने वाले भोंदू दास' हैं। जनता में राजनीतिक जागरूकता का अभाव उन्हें बहुत खटकता था और कई निबन्धों में इसकी चर्चा उन्होंने की है। भेद-बुद्धि, स्वार्थपरता, शुष्क परमार्थ चिन्तन, मिथ्याचरण, आडम्बर और बाहरी ढकोसलों से भट्ट जी को बहुत चिढ़ थी। उस जमाने में संतति-नियमन को वे जरूरी समझते थे। समाज की उन छोटी-से-छोटी प्रवृत्तियों पर उनकी दृष्टि रहती थी जिनका लगाव उनकी समझ से देश की उन्नति-अवनति से था। नामकरण के विषय में एक लेख लिखकर उन्होंने 'दीन', 'दास'-जैसे शब्दों वाले नामों पर बड़ा रोष प्रकट किया है, क्योंकि इनमें दीनता और गुलामी की भावना लिपटी है।

भट्ट जी ने बहुत से शुद्ध विचारात्मक निबन्ध लिखे हैं, अधिकांश विनोदपूर्ण रचनाओं में भी उनकी प्रकृत गम्भीरता स्पष्ट झलकती है पर इनके कई निबन्ध ऐसे भी हैं जिनमें करीब-करीब पं० प्रतापनारायण मिश्र की-सी स्वच्छन्दता है लेकिन ग्रामीणता नहीं। 'हिन्दी-प्रदीप' में इनके निबन्धों या लेखों के कुछ ऐसे शीर्षक भी मिलते हैं—'रोटी तो किसी भाँत कमा खायँ मुछन्दर' 'माँगबो भलो न बाप से जो बिधि राखै टेक' 'जमीने चमन गुल खिलाती है क्या-क्या। बदलता है रंग आसमाँ कैसे-कैसे।' इनके निबन्ध साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक और मनोवैज्ञानिक आदि अनेक विषयों पर लिखे गए हैं। शैली के भी विश्लेषणात्मक, भावात्मक, व्यंग्यात्मक आदि कई रूप मिलते हैं। निबन्धों के रूप-विन्यास की दृष्टि से भी जैसी अनेकरूपता भट्ट जी के निबन्धों में मिलती है वैसी हिन्दी के किसी नये-पुराने निबन्धकार की रचनाओं में नहीं पाई जाती। 'बातचीत', 'खटका', 'जबान', 'ल' आदि निबन्धों में लेखक का मनोरंजक व्यक्तित्व अनेक रूपों में प्रकट हुआ है। भट्ट जी के विचारात्मक निबन्ध तर्कपुष्ट शैली में व्यवस्थित ढंग से लिखे गए हैं। कहीं-कहीं तो ये निबन्धों का, बिना किसी भूमिका के, ऐसी गम्भीरता के साथ आरम्भ करते हैं कि आचार्य शुक्ल का स्मरण हो आता है। 'कौतुक' का आरम्भ देखिए—'जिस बात को देख या सुन चित्त चमत्कृत हो सब ओर से खिंच सहसा उस देखी या सुनी बात की ओर झुक पड़े वह कौतुक है।' पर इस शैली का न तो आद्यंत निर्वाह हो पाता है और न अन्तःप्रयास से निकली विचार-धारा का क्रमबद्ध उद्घाटन ही मिलता है। यह कार्य शुक्ल जी द्वारा आगे चलकर पूरा होने वाला था।

उर्दू के क्षेत्र से आए श्री बालमुकुन्द गुप्त ने गम्भीर गद्य को माँजकर प्रांजल बनाया और व्यंग्य को शालीनता सिखाकर उसे अधिक सांकेतिक और व्यंजक बनाया। श्री अमृतलाल चक्रवर्ती ने लिखा है कि 'प्रेमघन' जी 'हिन्दी बंगवासी' को 'भाषा गढ़ने की टकसाल बतलाते

थे। उस टकसाल का कोई सिक्का बाबू बालमुकुन्द गुप्त की छाप के बिना नहीं निकलता था। गद्य-शैली की परम्परा के प्रवर्तन में गुप्त जी की सहायता का महत्त्व आँकना हम प्रायः भूल जाते हैं। किसी भी गद्य-शैली का सर्व-स्वीकृत रूप तब सामने आता है जब भाषा की गठन और शब्दों की एकरूपता के सम्बन्ध में आलोचना-प्रत्यालोचना होती है, व्याकरण पर विचार होता है। इस कार्य का आरम्भ करने में गुप्त जी ने गम्भीर अनुभव और योग्यता के साथ योग दिया। और पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अभूतपूर्व क्षमता के साथ उसे पूरा किया।

गुप्त जी की युगानुकूल सजगता राजनीतिक विचार के क्षेत्र में अधिक दिखाई देती है। अतीत गौरव की भावना, जो तत्कालीन लेखकों की एक सामान्य प्रवृत्ति थी, इनमें भी पाई जाती है। भारतीयों के कुचले हुए सम्मान को जिलाए रखने और उनमें नया उत्साह भरने के लिए यह आवश्यक भी था। उन्होंने कई जीवन-चरित, तथा हिन्दी भाषा, लिपि, व्याकरण, राष्ट्रभाषा आदि के सम्बन्ध में लेख लिखे हैं पर निबन्ध-लेखक के रूप में उनकी प्रसिद्धि का आधार मुख्यतः उनकी व्यंग्यात्मक गद्य-रचनाएँ 'शिवशंभु के चिट्ठे' और 'खत' हैं। गम्भीर बातों को विनोदपूर्ण या व्यंग्यात्मक ढंग से कहते-कहते अपने हृदय का क्षोभ और दुःख अत्यन्त प्रभावपूर्ण ढंग से संयत रूप में व्यक्त करना उनकी अपनी विशेषता है। 'व्यक्ति' को 'व्यक्ति' द्वारा संबोधित करके लिखे जाने के कारण इन रचनाओं में एक तरह की नाटकीयता आ गई है और कहीं-कहीं भाषण शैली का-सा ओज और प्रवाह दृष्टिगोचर होता है।

भारतेन्दु युग के लेखकों में से श्री ज्वालाप्रसाद, श्री तोताराम और श्री राधाचरण गोस्वामी ने भी छिटफुट निबन्ध लिखे। पं० अम्बिकादत्त व्यास के साधारण लेखों का भी उल्लेख किया जा सकता है। 'कलम की कारीगरी' दिखाने वाले पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने निबन्ध नहीं टिप्पणियाँ और साधारण लेख लिखे हैं। 'आनन्द-कादंबिनी' में प्रकाशित 'मसहरी' 'हमारी दिनचर्या' 'फाल्गुन' आदि कुछ रोचक निबन्ध प्रेमघनजी के नहीं उनके अनुज उपाध्याय हरिश्चन्द्र शर्मा के लिखे हुए हैं जो उस पत्रिका में बराबर लिखते थे।

× × × ×

बीसवीं सदी के आरम्भ तक अँग्रेजी राज पूर्ण प्रतिष्ठित हो गया और अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों की संख्या बढ़ गई। हिन्दी के लेखक 'सामाजिक मनुष्य' की ओर विशेष ध्यान देने लगे। ऐसे व्यक्ति की ओर उनकी दृष्टि गई जो सामाजिक गुणों से युक्त हो। इसलिए हिन्दी-निबन्धों के विकास के दूसरे युग में नैतिक निबन्ध अधिक लिखे गए।

निबन्धों में पत्रकारिता की स्वच्छन्दता कम हो गई। पत्र-पत्रिकाओं की संख्या बढ़ने के साथ ही साप्ताहिक, दैनिक और मासिक पत्रों के बीच की दूरी बढ़ती गई। जिन मासिकों में निबन्ध छपते थे उन्होंने अपनी मुद्रा गम्भीर कर ली। निबन्धकार धीरे-धीरे शिक्षित और 'शिष्ट' समाज के अधिक समीप आता गया। उसकी प्रकृति में एक तरह का अभिजात्य आ गया। द्विवेदीजी ने निबन्ध-लेखकों को संस्कृत ढंग से, शिष्टतापूर्वक बात कहने का ढंग सिखाया—विशेषतः राजनीतिक जबकि राजनीति क्रमशः उग्र रूप धारण करती जा रही थी। राजनीतिक चर्चा करने और तत्सम्बन्धी जोशीला साहित्य छापने का काम अधिकतर साप्ताहिकों को मिल गया।

निबन्ध प्रायः गम्भीर विषयों पर लिखा जाने लगा। रूप-रंग भी उसका गम्भीर हो गया। भारतेन्दु युग का-सा उसका सार्वजनिक रूप नहीं रहा। वह अधिकतर शिष्ट-समाज की वस्तु होता

गया। उसमें समूचे समाज की मनोवृत्ति या भावना का प्रतिबिम्ब कम होता गया, वह पढ़े-लिखे समाज के अधिक निकट आने लगा। आगे छायावाद-काल में आकर तो अनेक ऐसे निबन्ध सामने आए जिनमें व्यक्ति की भावनाएँ अधिक स्पष्ट और मोहक रंगों में चमकने लगीं। भावात्मक निबन्ध ऐसे ही हैं। कुछ व्यक्तिनिष्ठ निबन्ध भी बहुत-कुछ ऐसे ही हैं।

भाषा और साहित्य का प्रश्न एक नए रूप में इस समय उपस्थित हुआ। भाषा में एकरूपता लाने और उसे समृद्ध बनाने में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी लगे हुए थे। भाषा के साथ ही विचारों को शालीन बनाने का काम अपने-आप होता गया। निबन्ध बौद्धिक अधिक हो गए, उनकी हार्दिकता कम हो गई। द्विवेदीजी के द्वारा या उनके प्रभाव में लिखे गए निबन्ध विविध विषयों की जानकारी कराने के साधन हो गए। विषय-वैभिन्य के कारण भाषा समृद्ध हुई, इसमें सन्देह नहीं लेकिन निबन्ध विविध विषयों की जानकारी कराने के साधन-मात्र नहीं हैं। इस युग के लेखकों ने अपनी इसी प्रकृति के कारण दूसरी भाषा के निबन्धकारों की ओर देखा भी तो अंग्रेजी के बेकन और मराठी के चिपलूणकर के निबन्धों की ओर दृष्टि गई और उनके अनुवाद भी प्रस्तुत हुए पर बेकन के निबन्धों में विचार-सम्बन्धी जो गम्भीर वैयक्तिक प्रयास है उसे ये लोग नहीं अपना पाए। द्विवेदी युग में साहित्य से अधिक नैतिक आदर्शों का ध्यान रखा जाने लगा।

ज्ञान-राशि का संचित कोश और 'बातों के संग्रह'

द्विवेदीजी ने लिखा है कि साहित्य ज्ञानराशि-का संचित कोश है। उनके 'साहित्य की महत्ता' 'कवि और कविता' 'कवि-कर्त्तव्य' 'प्रतिभा' 'नाटक' 'उपन्यास'-जैसे निबन्ध ज्ञान के संचित भांडार ही हैं। उनके अधिक लेख या टिप्पणियाँ सरल और सुबोध शैली में पाठकों को विविध विषयों की जानकारी कराने के उद्देश्य से लिखी हुई रचनाएँ हैं।

द्विवेदी जी ने थोड़े से ऐसे निबन्ध भी लिखे हैं जिनमें उनकी शैली की रोचकता, स्वच्छन्द मनोदशा और थोड़ी आत्मीयता के दर्शन होते हैं। 'दण्डदेव का आत्मनिवेदन', 'नल का दुस्तर दूत-कार्य', 'कालिदास का भारत', 'गोपियों की भगवद्भक्ति' आदि कुछ निबन्ध इसी प्रकार के हैं। इन निबन्धों में अर्जित ज्ञान ही है पर उसे अपना बनाकर आत्मीय ढंग से प्रकट करने और अक्सर एक रमणीय वातावरण उपस्थित करने में लेखक को पूरी सफलता मिली है।

बाबू श्यामसुन्दरदास, मिश्रबन्धु और श्री गुलाबराय आदि निबन्धकार भी इसी श्रेणी में आते हैं, यद्यपि इनका स्वतन्त्र विकास हुआ। द्विवेदी जी ने, पेशे से अध्यापक न होते हुए भी अपने अधिक निबन्धों या लेखों द्वारा शिक्षक का कार्य किया तो बाबू साहब ने अध्यापक पद से, एक विद्वान् शिक्षक की भाँति व्यवस्थित ढङ्ग से विशेषतः साहित्यिक विषयों, जैसे 'समाज और साहित्य' 'कला का विवेचन' आदि, पर कुछ निबन्ध लिखे। इन लेखों में एक अध्यापक का 'पाण्डित्यपूर्ण ओज' है, अर्जित ज्ञान का गांभीर्य है, पर निबन्ध की वह आत्मा नहीं जिसके कारण साहित्यिक दृष्टि से कोई रचना उच्च कोटि का निबन्ध कहलाती है।

मिश्रबन्धुओं के निबन्ध संख्या में काफी हैं पर उनका महत्त्व भी शिक्षा-मूलक ही है। श्री गुलाबराय के 'समाज और कर्त्तव्य-पालन'-जैसे निबन्ध एक तर्कशास्त्री के लिखे प्रबन्ध हैं, जिस में प्रस्तुत विषय का अच्छे ढंग से सांगोपांग विवेचन है। इनके 'फिर निराश क्यों?' में संकलित रचनाएँ बल्कि निबन्ध के अधिक निकट हैं। आलोचनात्मक निबन्ध भी इन्होंने प्रचुर परिमाण में

लिखे हैं पर विनोदमयी शैली में संस्मरणात्मक ढंग से लिखे गए इनके निबन्ध, निबन्ध की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उनका विचार आगे होगा। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का भी इस प्रसंग में उल्लेख करना आवश्यक है। साहित्यिक विषयों पर बख्शी जी ने कई निबन्ध लिखे हैं जो इस श्रेणी में आते हैं पर निबन्ध के अधिक अच्छे गुण उनकी बाद की रचनाओं में प्रस्फुट हुए। इनका विचार भी आगे किया जायगा।

× × ×

इसी समय पं० पद्मसिंह शर्मा ने भी कुछ अच्छे निबन्ध लिखे हैं जो इनकी फड़कती शैली के कारण अधिक आकर्षक हो गए हैं। इनकी लिखी कुछ जीवनियाँ और संस्मरणात्मक निबन्ध अवश्य मार्मिक बन पड़े हैं। इनमें इनकी भावुकता देखने ही योग्य है। इसके बाद पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, श्री ब्रजमोहन वर्मा, श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी' आदि ने भी इस प्रकार के कुछ अच्छे संस्मरणात्मक या चरितात्मक निबन्ध लिखे हैं। वर्मा जी में संस्मरणात्मक निबन्ध लिखने की मार्मिक प्रतिभा थी।

इस युग के तीन विशिष्ट निबन्धकार

भारतेन्दु युग के या उसकी प्रवृत्तियों को अपनाकर आगे बढ़ने वाले निबन्धकारों के बाद द्विवेदी-युग में साहित्यिक दृष्टि से तीन उच्च कोटि के निबन्धकार सामने आए जो अधिक निबन्ध नहीं लिख पाए पर जिनमें निबन्धकार की वास्तविक प्रतिभा थी। इसके नाम हैं श्री माधवप्रसाद मिश्र, श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और सरदार पूर्णसिंह। पं० माधवप्रसाद का स्वर्गवास सन् १९०७ में, उसी वर्ष हुआ जिस वर्ष श्री बालमुकुन्द गुप्त का, पर प्रवृत्ति के विचार से गुप्तजी का उल्लेख भारतेन्दु युग के लेखकों के साथ किया गया है। मिश्रजी का मानसिक अवस्थान परवर्ती लेखकों से अधिक मिलता-जुलता था। त्योहारों, तीर्थ-स्थानों आदि पर लिखे इनके निबन्धों में इनका देश-प्रेम, इनकी विद्वत्ता और भारतीय संस्कृति तथा सनातन धर्म के प्रति इनकी निष्ठा भली-भाँति लक्षित होती है। इनके 'सब मिट्टी हो गया'-जैसे निबन्ध में एक अत्यन्त मार्मिक निबन्धकार के दर्शन होते हैं। इसमें बच्चे के मुँह से निकला एक छोटा-सा वाक्य लेखक की अनुभूति का द्वार खोलकर उसके सरस देश-प्रेम आदि का मनोरम उद्घाटन करता है।

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ऐसे निबन्धकार हैं जो विचार और शैली की दृष्टि से द्विवेदी युग के शायद सबसे अधिक प्रगतिशील और प्रवृत्ति के विचार से भारतेन्दुयुगीन निर्बन्ध निबन्ध को एक नई ज्ञान-प्रदीप्त दिशा की ओर विनोद-वक्र-गति से ले चलने वाले लेखक हैं। इनके हाथों में पड़कर व्यंग्य भारतेन्दु युग की अपेक्षा अधिक परिमार्जित और द्विवेदी युग के अन्य लेखकों की अपेक्षा अधिक वीर्यवान और भास्वर हुआ। उनके 'कछुआ धरम' नामक निबन्ध में हिन्दुओं की पलायन-प्रियता, प्रतिरोध की शक्ति के अभाव और अंधी रूढ़िवादिता पर जो जोरदार व्यंग्य किया गया है वह उस समय के 'शिष्ट समाज' के किसी अन्य लेखकों के बूते की बात न थी। अब तक के लेखकों में सबसे अधिक विकसित ऐतिहासिक और सांस्कृतिक चेतना इन्हीं की थी। 'मारेसि मोहिं कुठाँव' और 'संगीत'-जैसे निबन्धों में उनकी शैली का चमत्कार और विचारों की प्रगतिशीलता अच्छी तरह दिखाई देती है।

निर्बंध निबन्धों की परम्परा को एक नई लय और गति के साथ नये मानवतावादी मार्ग पर ले जाने का कार्य उदार प्रकृति और परम भावुक लेखक सरदार पूर्णसिंह ने किया। श्रम,

श्रमिक, सरल जीवन, आत्मिक उन्नति आदि के विषय में इनके निबन्ध एक नई चेतना प्रदान करते हैं। इन्होंने विविध सम्प्रदायों के बाहरी विधि-विधान को हटाकर उन सबके भीतर एक आत्मा का स्पंदन, एक सार्वभौम मानव-धर्म का स्वरूप देखा और अपने पाठकों को दिखाने की चेष्टा की। सभ्य आचरण और प्रेम तथा आत्मिक दृढ़ता के द्वारा ही ये समाज का कल्याण देखते थे। कहीं इन्होंने आध्यात्मिक उन्नति पर बल दिया है तो कहीं सांसारिक कर्त्तव्य का पालन करने पर जोर दिया है। 'श्रम' का जैसा महत्त्व इन्होंने प्रतिपादित किया है वैसा द्विवेदी युग के गद्य और काव्य दोनों क्षेत्रों में दुर्लभ है। यह एक नई भावना थी जिससे उन्होंने हिन्दी के पाठकों को स्पंदित करने की चेष्टा की। इनकी भाषा में भी एक नये ढंग की लक्षणा और व्यंजना का चमत्कार है। भावों को मूर्तिमत्ता के साथ प्रस्तुत करने में इन्हें अद्भुत क्षमता प्राप्त थी। इनके निबन्ध पहले से चली आती भावात्मक शैली के भीतर नहीं आते, इन्हें प्रभावाभिव्यंजक कहना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि सजीव चित्रोपम वर्णन, मार्मिक भाव-व्यंजना, गम्भीर विचार-संकेत और भाषण-शैली की ओजस्विता—इन सबकी सहायता से ये बराबर एक विशेष प्रभाव की सृष्टि करते हैं।

"अन्तःप्रयास से निकली विचार-धारा"

द्विवेदी युग में विषय के वैविध्य के साथ ही विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ लेखक और निबन्धकार साहित्य के क्षेत्र में आए। साहित्य को अपना विशेष-क्षेत्र चुनने वाले तो बहुत हुए पर उनके लेखों में अर्जित ज्ञान की पुनरावृत्ति तथा उपदेश की प्रवृत्ति अधिक मिलती है। पं० रामचन्द्र शुक्ल के असंगृहीत आरम्भिक निबन्ध भी ऐसे ही हैं। पर बाद के निबन्धों में उनके 'अन्तः प्रयास से निकली विचार-धारा' है जो पाठकों को एक नवीन उपलब्धि के रूप में दिखाई पड़ी। साहित्य के क्षेत्र में इन्होंने लोक-मंगल की भावना की प्रतिष्ठा नवीन और प्रभावपूर्ण ढंग से की। साहित्य ही पर नहीं, उसमें निहित विचारों और उन विचारों की प्रेरक सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों पर भी अपने ढंग से विचार किया। नैतिकता को शुक्ल जी ने व्यावहारिक बनाया। रूढ़िवादी धार्मिक नैतिकता का खण्डन करके इन्होंने 'भावयोग' का महत्त्व दिखलाया। यह कार्य स्वतन्त्र मस्तिष्क और भावुक हृदय के योग से ही सम्भव हुआ। इस प्रकार शुक्लजी ने अपने व्यक्तिगत प्रयास से मानव-जीवन की उच्चता और उसमें छिपी नई सम्भावनाओं को दिखाया। इनके निबन्धों का सबसे अधिक महत्त्व इसी बात में है। श्री प्रतापनारायण मिश्र, भट्ट जी और द्विवेदीजी सबने नैतिक उपदेश देने वाले शिक्षात्मक लेख भी लिखे—अन्तिम दो ने मनोविकारों पर भी लिखा, पर विचार की दृष्टि से उनमें वह वैयक्तिक प्रयास नहीं जिसके द्वारा पाठक को कोई नूतन उपलब्धि हो। 'लोभ' और 'क्रोध' पर द्विवेदी जी ने लिखा अवश्य पर इसलिए लिखा कि लोग इनके अवगुणों से परिचित हो जायँ और इनसे बचें। वही इन्द्रिय-निग्रह वाली पुरानी निषेधात्मक धार्मिक नैतिकता। पर शुक्लजी कहते हैं कि 'मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति में ही है। नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोवेगों को दूर करने का उपदेश घोर पाखण्ड है।' क्रोध से बराबर बचने का उपदेश वे नहीं देते। उनके विचार से तो 'सामाजिक जीवन के लिए क्रोध की बड़ी आवश्यकता है।' उन्होंने लोभ की आवश्यकता और उपयोगिता भी दिखाई है। लोभ से बराबर बचने वाला तो जड़ हो जायगा। जन्मभूमि-प्रेम के मूल में लोभ ही है। इस तरह की बातें कहकर शुक्लजी एक व्यावहारिक दर्शन का साहित्य और जीवन से

सुन्दर सामंजस्य स्थापित करना चाहते हैं। उनके मनोविकार-सम्बन्धी और सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक आलोचना वाले निबन्धों में यह प्रवृत्ति सामान्य रूप से पाई जाती है। उनके निबन्धों की असली विशेषता यही है जो व्यक्ति-प्रधान नहीं विषय-प्रधान निबन्ध की विशेषता है।

उनके निबन्धों में गहन विचार-वीथियों के बीच-बीच में सरस भाव-स्रोत मिलते हैं। 'लोभ और प्रीति', 'करुणा' तथा 'श्रद्धा-भक्ति'-जैसे निबन्धों में जगह-जगह उनकी तन्मयता देखने ही योग्य है। वैयक्तिकता-प्रदर्शक संस्मरणात्मक संकेत, व्यंग्य-विनोद के छींटे और कहीं-कहीं विषयान्तर भी उनके निबन्धों में मिलते हैं, पर प्रतिपाद्य विषय को वास्तव में वे कभी भूलते नहीं। उनकी विचार-धारा बराबर प्रतिपाद्य विषय से नियन्त्रित होती है।

द्विवेदी युग की शास्त्रीय गद्य-शैली को एक नया रूप देकर शुक्लजी ने उसे बहुत ऊँचे उठा दिया। विषय के विश्लेषण और पर्यालोचन की दृष्टि से इनमें वैज्ञानिक की सूक्ष्मता और सतर्कता दिखाई देती है और भावों को प्रेरित करने के विचार से पूरी सहृदयता के दर्शन होते हैं। इनके घनीभूत वाक्यों की ध्वनि दूर तक जाती है।

शुक्लजी की ही परम्परा में कतिपय उन निबन्ध-लेखकों का भी उल्लेख किया जा सकता है जो विचार और शैली की दृष्टि से उनसे नहीं मिलते, पर जीवन के बारे में जो-कुछ कहना है साहित्य के माध्यम से कहते हैं और साहित्य के विशेषज्ञ माने जाते हैं। अन्तःप्रयास से निकली उनकी विचार-धाराएँ अनेक दिशाओं की ओर जाती हैं। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० रामविलास शर्मा, श्री अज्ञेय, श्री इलाचन्द्र जोशी और श्री शिवदान-सिंह चौहान आदि ऐसे ही लेखक हैं।

प्रसिद्ध भावुक आलोचक श्री शांतिप्रिय द्विवेदी की प्रकृति आलोचक से अधिक निबन्ध-कार की प्रकृति है। जो स्वच्छन्दता और संवेदनशीलता निबन्धकार के लिए अपेक्षित है वह द्विवेदीजी में मौजूद है। उनके साहित्यिक निबन्धों में साहित्य का प्रभाव ग्रहण करने के लिए तत्पर एक भावुक और संस्कृत-हृदय की झलक मिलती है। अन्तः प्रयास से नहीं, अन्तःप्रेरणा से निकली गांधीवादी मानवतावादी विचार-धारा की रेखा उनके निबन्धों में अक्सर मिलती है।

साहित्यिक या आलोचनात्मक निबन्धों की चर्चा करते हुए छायावाद के चारों प्रसिद्ध कवियों, प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी को नहीं भूला जा सकता। निराला के निबन्धों में स्वच्छन्द मनःस्थिति और मौलिक विचार-धारा तथा विद्रोह का स्वर बराबर सुनाई पड़ता है। प्रसाद ने भी आलोचना-विषयक गम्भीर लेख या निबन्ध लिखे हैं। बाकी दो कवियों के महत्त्व-पूर्ण आलोचनात्मक लेख या निबन्ध भूमिकाओं के रूप में हैं। महादेवी जी की 'शृङ्खला की कड़ियाँ' के नारी-जीवन-सम्बन्धी मार्मिक और विचारोत्तेजक सामाजिक निबन्ध अपना अलग मूल्य रखते हैं।

भावात्मक और अन्य निबन्ध

निबन्धों की भावात्मक शैली, जो भारतेन्दु के 'सूर्योदय' और भट्टजी के 'चन्द्रोदय' में अलंकार-सज्जित थी, धीरे-धीरे रागात्मक स्पन्दन से युक्त होती गई। छायावाद-काल में लघुकाय होकर वह रायकृष्णदास, वियोगी हरि और चतुरसेन शास्त्री के गद्य-काव्यों में प्रतीक, व्यंजना और भावोच्छ्वास से रंजित हो गई और उसने भाषा-शैली-सम्बन्धी नवीन विशेषता ग्रहण की। पं० माखनलाल चतुर्वेदी की भावात्मक गद्य रचनाओं में वियोगी हरि से भी अधिक विषय-वैविध्य

दिखाई देता है। आध्यात्मिक प्रेम और राष्ट्रीयता की भावनाओं की इन्होंने अनेकविध व्यंजना की है। पर डॉ० रघुवीरसिंह के निबन्धों में छायावादी अस्पष्टता कहीं नहीं मिलती। 'बिखरे फूल' में इनके आरम्भिक गद्य-गीतों का संग्रह है लेकिन इनकी प्रसिद्धि का आधार 'शेष स्मृतियाँ' है, जिसमें ऐतिहासिक इतिवृत्त का आधार लेकर मुगल राजवंश के उत्कर्ष, पतन और कोमल मानवीय सम्बन्धों की मार्मिक व्यंजना हुई है। ये निबन्ध अत्यन्त कला-समृद्ध हैं, यही उनका गुण है और दोष भी।

यहीं वर्णनात्मक निबन्धों का अलग से उल्लेख हो जाना चाहिए। कुछ लेखकों ने प्राकृत दृश्यों के सुन्दर वर्णन किये हैं और कुछ ने यात्रा-संबन्धी लेखों में विभिन्न स्थानों के चित्र और यात्रा-विवरण दिये हैं। इस प्रकार के वर्तमान लेखकों में स्वामी सत्यदेव, राहुल सांकृत्यायन और देवेन्द्र सत्यार्थी प्रसिद्ध हैं। श्री श्रीराम शर्मा के शिकार-सम्बन्धी लेख भी हिन्दी में अपने ढंग के अकेले हैं।

नई शैलियाँ—एक

भारतेन्दु युग के बाद विषय-प्रधान विचारात्मक निबन्धों की धारा जितनी पुष्ट हुई उतनी रचना-विषयक नियमानुवर्तिता छोड़कर नये ढंग से कम या अधिक स्वच्छन्दतापूर्वक रोचक शैली में लिखे गए निबन्धों की नहीं। द्विवेदी युग का नैतिक आग्रह भी इसमें कम बाधक नहीं हुआ। उस युग में भी गुलेरीजी और पूर्णसिंह-जैसे लेखक हुए जिनमें वह मानसिक स्वच्छन्दता मिलती है जो निर्बन्ध निबन्ध के लिए आवश्यक है, पर ये लोग भी इस नये मार्ग पर अधिक आगे न बढ़ पाए। शुक्लजी की 'विचार-वीथी' के प्रकाशन के चार ही वर्ष बाद सन् १९३४ में श्री लक्ष्मीकांत झा का 'मैंने कहा' निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हुआ जिसमें अंग्रेजी के निबन्धकारों से प्रभावित 'एक नई ही शैली' के प्रयोग की चेष्टा की गई थी। ढूँढने पर इस तरह के और भी छिट-फुट प्रयोग उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में मिल जाते हैं पर यह अनुकरण जहाँ-का-तहाँ रह गया और हिन्दी-निबन्ध नये-नये मार्ग अपनाकर धीरे-धीरे आगे बढ़ता रहा। शैली के फेर में न पड़कर और अपने यहाँ के विद्वानों की गुरु-गम्भीर कथन-शैली छोड़कर जिनको सचमुच कुछ महत्त्वपूर्ण कहना रहा उन्होंने कहा ही। मनोरञ्जन इनका साधन रहा साध्य कभी नहीं। ये लेखक अंग्रेजी के व्यक्ति-प्रधान निबन्धकारों से प्रभावित अवश्य हैं पर इन्होंने उनका अन्धाधुन्ध अनुकरण नहीं किया, अधिकतर केवल उनकी स्वच्छन्द प्रकृति अपनाकर अपने लिए नया मार्ग निकाला। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, श्री सियारामशरण गुप्त और श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ऐसे ही लेखक हैं।

साहित्यिक आलोचना-विषयक निबन्ध बख्शीजी बहुत पहले से लिखते आ रहे थे, जिसे 'ज्ञान की संचित राशि' ही कहना अधिक ठीक होगा। निबन्धकार के रूप में उनकी अपनी प्रतिभा के दर्शन 'कुछ' तथा 'और कुछ' में संग्रहीत निबन्धों में मिलते हैं। यद्यपि 'क्या लिखूँ' निबन्ध में लेखक ने गार्डिनर का उल्लेख किया है पर रचना-विन्यास की दृष्टि से रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'विचित्र प्रबन्ध' का भी प्रभाव उन पर लक्षित होता है जिसका उन्होंने अपने ढंग से सुन्दर विकास किया है। बख्शीजी ने जीवन, समाज, धर्म, साहित्य आदि पर बड़े रोचक ढंग से कहानी की रञ्जकता, नाटकीयता और चरित्र-चित्रण विधि अपनाकर निबन्ध लिखे हैं। विचार की दृष्टि से ये द्विवेदी-युग के उदार दल के प्रतिनिधि लेखक हैं जिनकी पूरी सहानुभूति छायावादियों

के साथ है तो प्रगतिवादियों के साथ उससे बहुत कम नहीं। मनुष्य की महत्ता में इनका विश्वास है, कोरे यथार्थवाद को साहित्य के उपयुक्त नहीं मानते, जीवन में वैषम्य की अनिवार्यता बराबर देखते हैं और कथा-साहित्य में घटना-वैचित्र्य और प्रच्छन्न आदर्श को निहिति आवश्यक समझते हैं। शिष्ट विनोद और सुखद आत्मीयता के साथ गम्भीर बातें कर जाना इनकी एक विशेषता है।

कवि सियारामशरण जी ने निबन्ध के क्षेत्र में सुन्दर प्रतिभा का परिचय दिया है। गांधीवाद की सारी सहजता, आस्तिकता और करुणा उनकी रचनाओं में प्रतिफलित हुई है तो कवि-सुलभ भावुकता और तत्त्वचिंतन की स्वतन्त्र वृत्ति भी दिखाई देती है। उन्होंने 'सामान्य' और 'विशेष' विषयों पर स्वतन्त्र रूप में अपने मनोरम ढंग से लिखा है। कहीं वे अपनी 'अपूर्णता' के महत्त्व से प्रभावित होते, तो कहीं 'धन्यवाद' के माध्यम से आधुनिक कृत्रिम शिष्टाचार पर व्यंग्य करते हैं और कहीं स्त्रियों का 'घूँघट' उन्हें बतलाता है कि हर आदमी एक तरह से नकाब-पोश ही है! संस्मरण, यात्रा-विवरण, साहित्य और समाज की अनेक समस्याओं पर विनोदपूर्ण, सरस और आत्मीय ढंग से लिखे इनके निबन्ध मनोरंजक भी हैं और मार्मिक भी।

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी विद्वत्तापूर्ण अनुसंधानात्मक लेख लिख सकते हैं, कबीर और नाथ पन्थ के साहित्य के मूल सांस्कृतिक स्रोत का पता लगाकर उनका गम्भीर साहित्यिक मूल्यांकन कर सकते हैं लेकिन अनौपचारिक ढंग से जब पाठक से बात करने बैठेंगे तो चर्चा का विषय होगा 'नाखून क्यों बढ़ते हैं', 'आम फिर बौरा गए', 'एक कुत्ता और एक मैना', 'अशोक या शिरीष के फूल'। सरलता, सरसता और विद्वत्ता का विरल संयोग निबन्धकार द्विवेदी में मिलता है। गुलेरी जी के पांडित्य की तीक्ष्णता और विराजमानता को इन्होंने सरस और कान्त बनाया है। सरलता के साथ व्यंग्य और विनोद की परिष्कृत भावना द्विवेदीजी के व्यक्तित्व का अविच्छेद्य अंग है। विकसित ऐतिहासिक चेतना के कारण इनके दृष्टिकोण में व्यापकता और उदारता आ गई है। द्विवेदीजी ने साहित्य, समाज, संस्कृति, ज्योतिष आदि अनेक विषयों पर लिखा है पर निर्बंध निबन्धों में उनकी रचनात्मक प्रतिभा दिखाई देती है। रवीन्द्रनाथ के विकासशील मानवतावाद की इन पर गहरी छाप है। अतीत की ओर दृष्टि फेरते ही निबन्धकार द्विवेदी जैसे रस-विह्वल हो उठते हैं—'अशोक के फूल' इन्हें प्राचीन मोहक मदनोत्सव का स्मरण दिलाते हैं पर साथ ही वे यह नहीं भूलते कि 'अशोक का वृक्ष जितना भी मनोहर हो···परन्तु है वह उस विशाल सामन्ती सभ्यता की परिष्कृत रुचि का ही प्रतीक, जो साधारण प्रजा के परिश्रमों पर पली थी···और लाखों-करोड़ों की उपेक्षा से समृद्ध हुई थी।'

श्री जैनेन्द्रकुमार ने बहुत से निर्बंध निबन्ध लिखे हैं पर उनमें से उच्च कोटि के निबन्ध वे ही हैं जिनमें लेखक गम्भीर दार्शनिक की मुद्रा त्यागकर अपने सरल स्वाभाविक रूप में पाठक के सामने आता है। 'आप क्या करते हैं', 'रामकथा', 'कहानी नहीं', 'बाजार-दर्शन' ऐसे ही निबन्ध हैं। अक्सर प्रश्नोत्तर की रोचक शैली में गम्भीर समस्याओं या तथ्यों का, व्यंजना के माध्यम से, उद्घाटन इनकी ऐसी रचनाओं की विशेषता है। इनका व्यंग्य-विधान कहीं शब्द-प्रयोग पर अवलम्बित रहता है और कहीं पूरे वाक्य की ध्वनि पर। इनकी बिन सँवारी भाषा तथा बातचीत वाली शैली के वाक्य-विन्यास आत्मीयता और बे-तकल्लुफी का वातावरण तैयार करने में सहायक होते हैं।

इस प्रसंग में सर्वश्री सद्गुरुशरण अवस्थी, भगवतीचरण वर्मा, देवेन्द्र सत्यार्थी, भदन्त

आनन्द कौसल्यायन और नरहरि विष्णु गाडगिल का नामोल्लेख किया जा सकता है जिन्होंने हिन्दी-निबन्ध के क्षेत्र में कुछ सुन्दर और सफल प्रयोग किये हैं।

दो निबन्धकार इस श्रेणी में ऐसे हैं जिन्होंने अपने ढंग के अकेले संस्मरणात्मक निबन्ध लिखे हैं। श्री गुलाबराय की 'मेरी असफलताएँ' ऐसी ही रचना है। व्यक्तिगत संस्मरणों के आधार पर एक अनुभव-समृद्ध साहित्य के व्यंग्यविनोदमयी शैली में लिखे गए ये निबन्ध अलग-अलग होते हुए भी एक-दूसरे से मिलकर एक क्रम-बद्ध आत्मचरित का रूप धारण कर लेते हैं।

दूसरी लेखिका है श्रीमती महादेवी वर्मा जिन्होंने 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' में समाज के उपेक्षित और अभाव तथा अत्याचार से जर्जर व्यक्तियों के अत्यन्त मार्मिक संस्मरण प्रस्तुत किये हैं। समाज के महत्त्वहीन समझे जाने वाले व्यक्तियों के जीवन की महत्ता, उनका दुःख-दर्द, नारी के साधनामय करुण जीवन आदि का इन रचनाओं में अनूठा चित्रण हुआ है। शैली की दृष्टि से महादेवी जी का गद्य छायावादी कविता के गुणों से अलंकृत है। विनोदपूर्ण बातें कहते हुए कहीं चुटीले सामाजिक व्यंग्य करना और कहीं करुणा की भावना से अभिभूत कर लेना महादेवीजी की एक विशेषता है। इन रचनाओं में कहानी की साकांक्षता, काव्य की भावमयता और चित्र-कला का चित्रण-कौशल है। लेखिका का सहानुभूतिपूर्ण व्यक्तित्व और अत्याचारी पुरुष समाज के प्रति उसकी विद्रोह-भावना नाना रंगों में प्रकट हुई है।

जिस तरह छोटे गद्य-गीतों को आलोचकों ने निबन्ध की श्रेणी में रख दिया है उसी प्रकार रेखा-चित्रों (स्केचों) को भी। रेखा-चित्र लिखने वालों में श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त और श्री रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी प्रसिद्ध हैं। प्रकाशचन्द्र जी के चित्र यथार्थवादी अधिक हैं तो बेनीपुरी के चित्र यथार्थ का ऐसा रूप सामने लाते हैं जो भावनारंजित भी होता है।

नई शैलियाँ—दो

जैसा कि आरम्भ में ही दिखाया जा चुका है, भारतेन्दु युग में व्यंग्य-प्रधान निबन्ध काफी संख्या में लिखे गए। इन निबन्धों की परम्परा बराबर विकसित होती रही। कई लेखक बीच-बीच में व्यंग्य-विनोद का पुट देकर सजीवता लाते रहे तो कुछ के पूरे निबन्ध की शैली ही व्यंगात्मक होती थी। गुलेरीजी की चर्चा हो चुकी है छायावाद-काल में निराला के निबन्धों में अन्यों की अपेक्षा अधिक पैना व्यंग्य मिलता है। विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक ने 'विजयानन्द दुबे' और 'दिव्यचक्षु' के नाम से सामयिक विषयों पर चुभते व्यंग्य लिखे हैं। सम्वादों के द्वारा प्रभावपूर्ण ढंग से व्यंग्य की व्यंजना करना इनकी अपनी विशेषता है। 'मतवाला'-मण्डल के श्री शिवपूजन-सहाय के हल्की-फुल्की शैली में लिखे सुन्दर निबन्धों में व्यंग्य से अधिक हास्य और विनोद है। बेढब बनारसी के भी कुछ राजनीतिक व्यंग्य अच्छे बन पड़े हैं।

सभी प्रकार के व्यंग्यों में मूल वृत्ति आलोचना की ही रहती है। पर नई पीढ़ी के नवयुवक लेखकों में सामाजिक क्रान्ति की भावना बलवत्तर रूप में प्रकट हुई। शैली और प्रवृति दोनों के विचार से। इन लेखकों के विचार से जमाना ऐसा आ गया है कि हिन्दी के पूर्ववर्ती लेखकों या रोमांटिक युग के अंग्रेज निबन्धकारों की तरह सहृदयता, करुणा और महत्त्व दिखाने का अवसर अब नहीं है बल्कि जीर्ण-शीर्ण रूढ़ियों और ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों पर जोरदार प्रहार करने की जरूरत है। वह बात क्या जो तीखी न हो और वह तीखापन क्या जो तिलमिला न दे। फलतः व्यक्ति-प्रधान निबन्धों की व्यंग्यात्मकता वक्रोक्ति और कटूक्ति से सजकर इन निबन्धों में सामने आई।

अपने 'विप्लव' में श्री यशपाल ने निर्बंध निबन्ध-लेखक के मूड में सुन्दर व्यंग्य-लेख लिखे थे।

पर यहाँ मैं व्यंग्य का विचार शैली की दृष्टि से नहीं प्रवृत्ति की दृष्टि से कर रहा हूँ। पूरे निबन्ध के मूल में नई सामाजिक चेतना और उससे उत्पन्न आलोचना-वृत्ति प्रखर-व्यंग्य का रूप धारण करके इन निबन्धों में आती है। ये लेखक लैंब और लूकस की अपेक्षा, प्रवृत्ति के विचार से, चेस्टरटन बल्कि स्विफ्ट के भी अधिक समीप हैं।

श्री प्रभाकर माचवे और श्री नामवरसिंह का इस प्रसंग में उल्लेख किया जा सकता है। इन दोनों ने संख्या में काफी व्यक्तिनिष्ठ निर्बन्ध निबन्ध लिखे हैं पर संग्रह एक-एक ही प्रकाशित हुए हैं। संग्रहों के नाम क्रमशः 'खरगोश के सींग' और 'बकलमखुद' हैं। इन दोनों लेखकों ने शैली-सम्बन्धी भी नये-नये प्रयोग किये हैं। माचवे बहुत पहले से इस तरह के निबन्ध लिखते आ रहे हैं।

भविष्य की संभावनाएँ

हिन्दी का निबन्ध-साहित्य अपने थोड़े जीवन-काल में किस प्रकार विविध रूप-रंगों में विकसित होता आया है, इसका परिचय प्रस्तुत सर्वेक्षण से मिल गया होगा। आगे साहित्य में विषय-वैविध्य ज्यों-ज्यों बढ़ता जायगा, 'विशेषज्ञ' लेखक भी बढ़ते जायँगे और विशेषज्ञों के हाथ में पड़कर साहित्यिक निबन्ध भी अलग अलग रुचि के लोगों की गम्भीर जिज्ञासा-पूर्ति के साधन बनते जायँगे। यह प्रवृत्ति यदि एक ओर निबन्धों को गम्भीर और गूढ़ बनाकर उनका पाठक-समाज सीमित करती जायगी तो दूसरी ओर सामान्य पाठकों के थके मस्तिष्क को स्फूर्ति प्रदान करने वाले निर्बन्ध निबन्धों के प्रणयन और पठन में प्रेरक रूप भी होगी। दोनों प्रकार के—विषयनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ, जिन्हें परिबन्ध निबन्ध और निर्बन्ध निबन्ध कह सकते हैं—निबन्धों की आवश्यकता का अनुभव करने वाले पाठक और उन्हें लिखने वाले लेखक बढ़ते जायँगे पर इस समय निर्बन्ध निबन्धों का भविष्य विशेष आशाजनक प्रतीत हो रहा है।

६

नन्ददुलारे वाजपेयी

हिन्दी आलोचना

सामान्य रूप में यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि साहित्य की रचना और उसकी आलोचना की धाराएँ समानान्तर होती हैं। प्रत्येक युग का रचनात्मक साहित्य ऐसी आलोचना की उद्‌भावना करता है जो उसके अनुरूप होती है, और इसी प्रकार प्रत्येक युग की आलोचना भी उस युग की रचना को अपने अनुकूल बनाया करती है। वस्तुतः देश और समाज की परिवर्तनशील प्रवृत्तियाँ ही एक ओर साहित्यिक निर्माण की दिशा का निश्चय करती हैं, और दूसरी ओर समीक्षा का स्वरूप भी निर्धारित करती हैं। कहा जा सकता है कि रचनात्मक साहित्य के इतिहास और समीक्षा के इतिहास में धारावाहिक समानता रहा करती है।

हिन्दी-समीक्षा का विकास उपर्युक्त तथ्य के लिए उदाहरण भी उपस्थित करता है। विशेषकर भक्तियुग और रीतियुग के साहित्यिक विकास के साथ तत्कालीन समीक्षा-शैलियाँ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने स्थान-स्थान पर यह निर्देश किया है कि वे काव्य-रचना के लिए काव्य-रचना नहीं कर रहे। महात्मा कबीर ने भी काव्य-शास्त्र से अनभिज्ञ होने की चर्चा की है। उस समय का समीक्षादर्श भी भक्ति-भावना को प्रमुखता देकर चला था। रचना के कलात्मक गुणों की एक हद तक उपेक्षा भी हुई। एक स्वतन्त्र रस के रूप में भक्ति-रस की प्रतिष्ठा हो गई, यही नहीं भक्ति ही प्रमुख रस माना गया। वात्सल्य, सख्य, दास्य और माधुर्य आदि उसी के अंगभूत रस स्वीकार किये गए, साहित्य-शास्त्र में विवेचित नायक और नायिका-भेद से मिलती-जुलती भक्ति-सम्बन्धिनी नायक-नायिकाएँ भी उद्‌भावित हुईं। यह तो केवल कुछ मोटे निर्देश हुए। वास्तविकता यह थी कि काव्य-सम्बन्धी समस्त विवेचन की दिशा भक्ति-भावना के अनुरूप मोड़ दी गई थी। कवियों ने इस नये वातावरण से प्रभावित होकर अत्यन्त दैन्य से भरी करुण-रस की रचनाएँ प्रस्तुत कीं। सुदामा-चरित्र तथा प्रह्लाद और ध्रुव आदि के संकट-बहुल आख्यान इसी प्रवृत्ति के परिचायक हैं। कृष्ण-भक्ति-काव्य में शृङ्गार-रस की अतिशयता आध्यात्मिक नायक-नायिकाओं के आवरण में निर्विघ्न पनप रही थी। उसी समय से राम तथा कृष्ण-सम्बन्धी काव्य की ऐसी व्याख्याएँ भी चल पड़ीं जो भक्ति-भावना को तो बल देती थीं परन्तु साहित्यिक दृष्टि से त्रुटिपूर्ण थीं। रामचरितमानस की विविध टीकाएँ और रामायणी सम्प्रदायों में उसके विविध अर्थों और भावों की जो असाहित्यिक परम्परा चल पड़ी, वह आज भी चलती जा रही है।

रीति-काल में आकर साहित्य-शास्त्र ने फिर एक बार अपना सिर उठाया। वह क्रमशः आगे बढ़ता हुआ उस सीमा पर पहुँचा जिसे हम 'कला के लिए कला' की सीमा कह सकते हैं। निर्माण की सुघरता, विभाव और अनुभावों आदि की यथाक्रम योजना, विभिन्न संचारी व्यभिचारी भावों के नियमबद्ध निरूपण, यही काव्य के मुख्य लक्ष्य रह गए थे। काव्य-समीक्षा भी इन्हीं

रचनात्मक बारीकियों और पद्धति-रक्षा के उपक्रमों तक सीमित थीं। अलंकारों की संख्या बढ़ती जा रही थी, उसके सूक्ष्म भेदों-उपभेदों की गणना, साहित्यिक विवेचन का मुख्य आधार बन गया था।

इसी रीति-काल में कवियों की प्रवृत्ति के अनुरूप कम-से-कम दो प्रकार की समीक्षा-शैलियाँ प्रचलित हुई थीं, जिन्हें हम क्रमशः अलंकारवादी और रसवादी समीक्षा-शैली कह सकते हैं। महाकवि केशवदास के काव्य में अलंकारवादी प्रवृत्तियों की प्रमुखता है। वे और उनके अनुयायी काव्य-शास्त्र का विवेचन आलंकारिकता के आधार पर ही करते थे। इससे भिन्न बिहारी, देव, मतिराम आदि कवियों ने रस-शैली को अधिक महत्त्व दिया है। ये दोनों ही समीक्षादर्श यद्यपि उस समय की ह्रासोन्मुख कविता के मापदण्ड बने हुए थे, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनका प्रचलन व्यापक रूप में था और इन पद्धतियों का अध्ययन और अनुसरण साहित्य के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए आवश्यक माना जाता था। भूषण-जैसे वीर रस के स्वतन्त्र कवि भी इस रीतिवाद के चक्कर में पड़कर ही रहे।

भक्तिकालीन समीक्षा और रीतिकालीन समीक्षा, दोनों ही, अपने युग की काव्य-रचनाओं का आकलन करने के लिए निर्मित हुई थीं, और अपने उद्देश्य की पूर्ति भी कर रही थीं। परन्तु, हिन्दी-साहित्य के आगामी विकास में इन पद्धतियों का त्याग अथवा आत्यन्तिक संशोधन भी किया गया, और समीक्षा की नई विधियों का निर्माण होने लगा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के आगमन से हिन्दी-साहित्य में जो नवीन जीवन परिव्याप्त हुआ, उसने आलोचना के स्वरूप और प्रकार में भी नये तथ्यों का आविर्भाव किया। साहित्यिक विवेचन का स्तर अधिक बौद्धिक होने लगा। काव्य की समीक्षा में तो किसी प्रकार रस और अलंकार-पद्धति का प्रयोग चल सकता था, परन्तु गद्य और भाषा-सम्बन्धी नवीन निर्माण में वह पद्धति काम में नहीं लाई जा सकती थी। हिन्दी में उस समय नवीन उपन्यास, नई कहानी और नये काव्य-अनुवाद भी होने लगे थे। जिनके विवेचन के लिए नये प्रतिमानों की आवश्यकता थी। उपन्यास और नाटक आदि काव्य-रूपों के विवेचन पृथक्-पृथक् आदर्शों को लेकर ही हो सकते थे। अनुवादों की परीक्षा के लिए भाषा-सम्बन्धी प्रयोगों के अतिरिक्त भावों की सम्यक् अवतारणा का प्रश्न भी समीक्षकों के सम्मुख था। हम देखते हैं कि इस समय की समीक्षा में किसी विशेष शास्त्रीय नियम का अनुवर्तन नहीं हो रहा था, बल्कि भिन्न-भिन्न समीक्षक अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार रचनाओं के गुण-दोष उद्घाटित कर रहे थे। यह हिन्दी की नवीन प्रयोगकालीन समीक्षा का स्वरूप था।[1]

पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी के साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश करने पर समीक्षा का स्वरूप अधिक व्यवस्थित हो चला। उन्होंने नवीन युग की सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप साहित्यिक निर्माण की प्रेरणा दी और अपनी समीक्षा में उन्हीं कृतियों को महत्त्व देने लगे जो सामाजिक उत्थान और राष्ट्रीय विकास की भावनाओं से ओत-प्रोत थीं। आधुनिक कवियों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और गुप्तजी के वे प्रशंसक और समर्थक थे। परन्तु प्राचीन काव्य के अध्येता होने के कारण वे संस्कृत के प्रसिद्ध कवियों और हिन्दी के तुलसी, सूर आदि के काव्यों के भी ग्राहक थे। एक नया काव्यादर्श तैयार होने लगा था, जिसमें संस्कृत के कालिदास और भव-

---

१. **इस समीक्षा के प्रवर्तक बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', श्रीनिवासदास, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री आदि थे।**

भूति-जैसे अप्रतिम कवि, सूर और तुलसी-जैसे भावनावान् रचयिता, और भारतेन्दु और गुप्तजी-जैसे अभिनव देश-प्रेमी कलाकार समान रूप से समादृत थे। यह स्पष्ट है कि यह नया काव्यादर्श किसी परिपुष्ट शास्त्रीय आधार पर नहीं बना था, और न इसके मूल में कोई विशिष्ट और व्यवस्थित साहित्य-चेतना थी।

इस नवीन जागृति के साथ कई नये समीक्षक हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में आये, जिन्होंने अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार साहित्य-समीक्षा के पथ का प्रसार किया। मिश्रबन्धुओं ने रीतिकालीन साहित्यिक प्रतिमानों को नये मापदण्डों का रूप देना चाहा, परन्तु परिवर्तित परिस्थितियों में उन्हें इस कार्य में पर्याप्त सफलता नहीं मिली। मिश्रबन्धु नये जीवन के आदर्शों और उसकी आवश्यकताओं से अपरिचित न थे; वे पश्चिमी समीक्षा की नई शैलियों और प्रतिमानों की भी जानकारी रखते थे; परन्तु उनका दृष्टिकोण मुख्यतः परम्परावादी था। यही कारण है कि उन्होंने हिन्दी के नव सर्वश्रेष्ठ कवियों के चुनाव में और उससे भी बढ़कर हिन्दी के साहित्यिक इतिहास के लेखन में जिन परम्परागत विधियों का प्रयोग किया वे नवयुग के हिन्दी-साहित्यिकों को पूरी तरह मान्य न हुईं।

काव्य के कला पक्ष तथा उसके रचनात्मक सौन्दर्य का जैसा सुन्दर उद्घाटन पं० पद्मसिंह शर्मा ने किया वह बहुत-कुछ अपूर्व ही था। शर्माजी संस्कृत के मुक्तक कवियों के साथ, उर्दू और फारसी के चमत्कार-प्रधान काव्य के प्रख्यात रसिक थे। एक-एक शब्द और एक-एक मुहावरे की बारीक अर्थ-व्यंजना के पीछे वे पागल-से रहा करते थे। जीवन-भर उसी का अभ्यास करते रहे थे। उन्होंने बिहारी के दोहों की संस्कृत और उर्दू-फारसी के समानधर्मी कवियों के पद्यों से बड़ी चमत्कारपूर्ण तुलना की, जिससे सारा हिन्दी-संसार उनकी ओर आकृष्ट हो गया। तुलनात्मक समीक्षा से विभिन्न भाषाओं के अध्ययन की ओर नई प्रवृत्ति तो जाग्रत ही हुई, नये कवियों को अपने अनगढ़ उद्गारों को माँजने और सँवारने की प्रेरणा भी मिली। इस दृष्टि से शर्माजी की समीक्षा नये रचनात्मक साहित्य के लिए भी कुछ कम उपादेय नहीं रही।

परन्तु इस युग की समीक्षा का पूर्ण परिपाक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साहित्यिक व्यक्तित्व में दिखाई पड़ा। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती समीक्षकों के समीक्षा-कार्यों का पूर्ण समाहार करके एक नये समीक्षादर्श का निर्माण किया, जिसमें युगानुरूप व्यापकता थी। नामावली या शब्द-संकेत उन्होंने पुरानी समीक्षा से ही लिये थे, पर व्याख्या करने में वे पूर्णतः नवीन थे। आचार्य द्विवेदीजी ने संस्कृत और हिन्दी-साहित्य के उन्नततम कवियों के साथ नवयुग के काव्य-रचयिताओं की जो समान-सी अभ्यर्थना की थी, शुक्लजी उतनी दूरी तक उनका साथ नहीं दे सके। इसका अर्थ यही है कि वे समीक्षा की साहित्यिक और शास्त्रीय परम्परा के अधिक समीप थे और नवीन विकास को भी प्राचीन साहित्यिक पीठिका पर ही रखकर देखते थे। तुलसीदास-जैसे नीतिवादी और मर्यादावादी कवि उनके आदर्श थे। परन्तु तुलसीदास की आध्यात्मिक और साम्प्रदायिक भूमिकाओं को छोड़कर शुक्लजी ने उनके द्वारा चित्रित महत्त्वपूर्ण चरित्रों को, और उनकी मनोवैज्ञानिक और नैतिक जीवन-स्थितियों को महत्त्व दिया। एक प्रकार से वे तुलसीदास के नये व्याख्याता सिद्ध हुए, और इसी आधार पर उन्होंने भारतीय काव्य-शास्त्र की भी नई ही रूपरेखा प्रस्तुत की। अर्थहीन और प्राणहीन शब्द-संकेतों को नया जीवन प्रदान किया और सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य का अभिनव आकलन उपस्थित करके नई युग-चेतना को जन्म दिया। शुक्लजी अपने

विस्तृत साहित्यिक अध्ययन के कारण संस्कृत कवियों की स्वच्छतर काव्य-भूमि पर भी गए थे, उन्होंने वाल्मीकि तथा कालिदास के काव्य-सौन्दर्य, और विशेषतः उनके प्रकृति-वर्णन-सौन्दर्य की विस्तृत चर्चा की है। इस क्षेत्र में वे तुलसीदास के अनुयायी नहीं हैं। इसी प्रकार सैद्धान्तिक-समीक्षा के नये पहलुओं का उद्घाटन भी शुक्लजी ने अपनी मौलिक प्रतिभा द्वारा किया है, जो परम्परागत साहित्य-विवेचन से मेल नहीं खाता। उदाहरण के लिए 'साधारणीकरण' की उनकी व्याख्या और काव्य में अभिधेयार्थ और व्यंग्यार्थ के सापेक्षिक महत्त्व पर उनके वक्तव्य द्रष्टव्य हैं। अंग्रेजी साहित्य के नये सैद्धान्तिक विवेचनों और परीक्षा-विधियों से भी वे परिचित थे, और विभिन्न अवसरों पर उसका उल्लेख भी करते गए हैं। परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि अँग्रेजी साहित्य के उन्हीं समीक्षकों की उन्होंने चर्चा की है, जो उनके अपने पूर्वनिरूपित आदर्शों के अनुरूप थे। यहाँ तक कि उन्होंने ऐसे समीक्षकों और साहित्य-शास्त्रियों का विरोध भी किया है, जिनके वास्तविक साहित्यादर्श को उन्होंने पूरी तरह जानने की चेष्टा नहीं की। कहा जा सकता है कि शुक्लजी ने अपनी महान् उद्भावना-शक्ति और असंदिग्ध आचार्यत्व के अनुरूप, जहाँ कहीं से जो-कुछ भी साहित्यिक मर्म या तथ्य प्राप्त हो सका, उसका स्वच्छन्दतापूर्वक उपयोग किया।

यह स्वीकार करना होगा कि शुक्लजी ने एक व्यापक समीक्षादर्श का निरूपण अवश्य किया, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह पूर्णतः तटस्थ और निर्भ्रान्त समीक्षादर्श रहा हो। विशेषतः, शुक्लजी के दार्शनिक विचार और धारणाएँ तथा उनकी नीतिवादी दृष्टिकोण उनकी वैयक्तिक रुचि के परिचायक थे। प्रबन्ध-काव्य और प्रगीत-रचनाओं के बीच जिस अव्याहत साहित्य-सन्तुलन की आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति शुक्लजी ने नहीं की है। इसी के साथ, शुक्लजी ने लोक-साहित्य के समीप प्रवाहित होने वाली कबीर-जैसे निर्गुणियों की काव्य-वाहिनी का सम्यक् सत्कार नहीं किया। और नये युग में आकर हम यह देखते हैं कि उन्होंने बदलती हुई राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों, तथा उनमें विकसित होने वाली नई प्रतिभाओं का वैशिष्ट्य परखने की चेष्टा नहीं की। उनका समीक्षादर्श अतिशय व्यापक और सर्व-सामान्य अवश्य था, परन्तु उसमें परिवर्तनशील वस्तु-जगत् और उसमें उद्भावित होने वाले साहित्य-रूपों और प्रक्रियाओं को ग्रहण करने की वस्तुमुखी प्रवृत्ति नहीं थी। शुक्लजी का समीक्षादर्श सर्व-सामान्य और सर्वग्राही है, किन्तु वह विशिष्ट रचनाओं और युगानुरूप काव्य-प्रवृत्तियों के आकलन के लिए पूर्णतः सक्षम नहीं है। दूसरे शब्दों में, शुक्लजी का साहित्यादर्श स्थिर और अटूट है, गतिशील और विकासोन्मुख नहीं।[1]

इसी नवीन दिशा में नये समीक्षकों ने कार्य आरम्भ किया। इसे हम तटस्थ और ऐतिहासिक भूमिका पर उद्भावित साहित्यिक समीक्षा कह सकते हैं, जिसमें विभिन्न युगों के सांस्कृतिक और दार्शनिक आदर्शों के आकलन के साथ, रचना की मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक विशेषताओं के अध्ययन का उपक्रम है। इसी का नया निदर्शन नये समीक्षकों ने उपस्थित किया।

---

१. द्विवेदी युग के अन्य समीक्षकों में आचार्य श्यामसुन्दरदास, पं० कृष्णबिहारी मिश्र, लाला भगवानदीन आदि प्रमुख हैं। शुक्ल-धारा के अनुयायियों में पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, चन्द्रबली पांडेय, 'शिलीमुख', कृष्णशंकर शुक्ल, डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा और गुलाबराय जी की गणना की जाती है।

एक प्रकार से यह शुक्लजी के समीक्षा-कार्य को ही आगे बढ़ाने का उपक्रम था। कतिपय अनुशीलनकर्ताओं ने इस नवीन समीक्षा धारा को स्वच्छन्दतावादी, सौष्ठववादी या सांस्कृतिक समीक्षा-धारा भी कहा है। परन्तु इसकी प्रमुख विशेषता ऐतिहासिक और परिवर्तनशील परिस्थितियों के अध्ययन द्वारा रचनाकार के विशिष्ट काव्य-मूल्य को प्रतिष्ठित करना है। इन अध्येताओं को भारतीय साहित्यिक परम्परा का भी यथेष्ट परिचय है और वे काव्य के विभिन्न काव्य-स्वरूपों और विधानों से भी भली-भाँति परिचित हैं। शुक्लजी ने जिस समीक्षा को अपने निजी आदर्शों की वैयक्तिक या 'सब्जेक्टिव' भूमि पर स्थापित किया था, उसे ही वस्तून्मुखी और विकासमान भूमियों पर रखकर परखने का कार्य नये समीक्षक कर रहे हैं। कहा जा सकता है कि भारतेन्दु युग से आरम्भ होने वाली साहित्यिक समीक्षा यहाँ आकर एक प्रकार की पूर्णता ग्रहण करती है। परन्तु यहीं से एक नये प्रकार का विघटन भी आरम्भ होने लगता है।[1]

इस विघटन के मूल में स्थित कारणों की समीक्षा करना यहाँ हमारा लक्ष्य नहीं है। फिर भी, इतना कहा जा सकता है कि सन् १६३५ के आस-पास हिन्दी-साहित्य के रचनात्मक क्षेत्र में जो निराशा और सामाजिक अनुत्तरदायित्व की एक लहर आई थी; जिसने रचना और समीक्षा के क्षेत्रों में भी अपना अनिष्टकारी प्रभाव दिखाया था; उसी की प्रतिक्रिया-स्वरूप साहित्य के सामाजिक आदर्श का आग्रह करती हुई नई समीक्षा-पद्धति क्षेत्र में आई। 'साहित्य किसके लिए?'—यह प्रश्न उठाया गया; और इसका उत्तर देते हुए नव्यतर समीक्षकों ने कहा—'साहित्य जनता के लिए, साहित्य पूँजीवादी सभ्यता को समाप्त करने के लिए, साहित्य समाजवाद की प्रतिष्ठा के लिए।' ये उस समय तो नये नारों के रूप में ही प्रवर्तित हुए, पर आगे चलकर उन्होंने नये साहित्यिक आदर्श का व्यवस्थित और तर्क-सम्मत रूप भी ग्रहण किया।

यह वह समय था जब प्रसाद, निराला और पन्त के काव्योत्थान अपना सम्पूर्ण प्रदेय समाप्त करके प्रायः रिक्त हो चुके थे, 'कामायनी' का निर्माण हो चुका था; उनके स्थान पर महादेवी और बच्चन की एकांतिक और विषादमयी रागिनियाँ सुनाई देने लगी थीं। कथा-साहित्य में प्रेमचन्द जी का कृतित्व पूरा हो चुका था, और नई दार्शनिकता और व्यक्ति-चित्रण के नाम पर जैनेन्द्रकुमार और अज्ञेय आदि की कृतियाँ सामने आने लगी थीं। नाटकों के क्षेत्र में प्रसाद की राष्ट्रीय चेतना के स्थान पर लक्ष्मीनारायण मिश्र के तथाकथित यथार्थवादी प्रयोग चलने लगे थे। समीक्षा के क्षेत्र में भी बच्चन और महादेवी का स्तुति-गान होने लगा था। ऐसी स्थिति में साहित्य-सम्बन्धी स्वस्थ प्रतिक्रिया का आरम्भ होना आवश्यक था, और जब यह स्वस्थ प्रतिक्रिया 'जनता के लिए साहित्य' के नारे के रूप में व्यक्त हुई तब उसका समुचित स्वागत भी किया गया।

यदि यह नई समीक्षा-धारा साहित्य के स्वस्थ आदर्श को, और उसके स्वाभाविक विकास-क्रम को किसी कठोर मतवाद के साथ न जोड़कर स्वतन्त्र स्थिति में रहने देती और यदि लेखकों और रचनाकारों को उक्त मतवाद के लिए बाध्य और अभिभूत न होना पड़ता तो रचना और

१. इस समीक्षा-धारा के अन्तर्गत जानकीवल्लभ शास्त्री, हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामकुमार वर्मा, लक्ष्मीनारायण सुधांशु आदि की गणना की जा सकती है, प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक भी इसी कोटि में रखा गया है। निराला और दिनकर के कतिपय निबन्ध भी इसी श्रेणी में आते हैं। शान्तिप्रिय द्विवेदी की आत्म-व्यंजक उद्भावनाएँ भी इसी श्रेणी की समझी जाती हैं।

समीक्षा के दोनों क्षेत्रों को अधिक लाभ पहुँचता। साहित्य की स्वतन्त्र परम्परा और उसकी रचना की निर्बाध विधियाँ, किसी कट्टर बौद्धिक मतवाद का अनुसरण नहीं कर सकतीं, विशेषकर जब ये मतवाद आदेशों का रूप ग्रहण कर लें, और समय-समय पर नये फरमान निकालते रहें। वैसी स्थिति में साहित्यिक विकास की सम्भावना और भी शंकाग्रस्त हो जाती है। प्रगतिवादी समीक्षा के आरम्भिक वर्षों में ऐसी कोई कट्टरता नहीं थी। उस समय प्रकाशित हुई शिवदानसिंह चौहान की समीक्षाएँ किसी नये आदेश के रूप में नहीं आई थीं, वे नई रचना के लिए नया आश्वासन और नवीन दिग्निर्देश-मात्र करती थीं। परन्तु आगे चलकर यह समीक्षा उतनी स्वच्छन्द और प्रेरणा-प्रद नहीं रह गई। उसने नया सिद्धान्तवादी या 'डॉक्ट्रेनियर' स्वरूप ग्रहण किया और बड़े अद्भुत प्रकार से प्रगतिशील रचनाओं की पहचान और परख करने लगी। बहुत थोड़े सौभाग्यशाली लेखक उन आदेशों की शत-प्रतिशत पूर्ति कर सकते थे। इसलिए यह देखा गया कि हिन्दी के प्रगतिवादी लेखन के क्षेत्र में बस आदेश-ही-आदेश हैं, कृतियों का कहीं नाम नहीं।[1]

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि पश्चिमी साहित्य में मार्क्सवादी साहित्य-समीक्षा पर्याप्त प्रगति कर चुकी है। उसने साहित्य-रचना और साहित्य-विवेचन-सम्बन्धी यथार्थवादी दृष्टिकोण को प्रोत्साहन दिया है। परन्तु वह यथार्थवाद स्वस्थ साहित्य के स्वीकृत प्रतिमानों से बहुत दूर की वस्तु नहीं है। यह यथार्थवाद मुख्यतः सामाजिक प्रगतिशीलता के तत्त्वों को अपनाकर चलता है और 'मनोविज्ञान के लिए मनोविज्ञान' या 'कला के लिए कला' की प्रवृत्तियों के विरोध में उपस्थित होता है। नये मार्क्सवादी समीक्षकों ने साहित्य की सामाजिक भूमिका के अनुशीलन में ऐसे ही तथ्यों पर प्रकाश डाला है जिनसे साहित्यिक प्रतिमानों को बल मिलता है, और ऐसे कवियों के कृतित्व पर अधिक उज्ज्वल आलोक पड़ता है जो साहित्यिक दृष्टि से भी अग्रणी माने गए हैं। इस प्रकार मार्क्सवादी समीक्षा साहित्यिक परम्परा से प्राप्त उपलब्धियों को नया बल प्रदान करती है। यदि इस यथार्थवादी समीक्षा-पद्धति से इस उपादेय उद्देश्य की सिद्धि होती है तो इससे किसी का विरोध नहीं हो सकता। परन्तु एक विशेष मतवाद को चाहे वह कितना ही तटस्थ और वस्तु-सापेक्ष क्यों न हो, साहित्य-समीक्षा में अत्यधिक प्रमुखता देना, साहित्यिक मूल्यों के प्रति उपेक्षा करना भी हो जाता है। इसीलिए पश्चिम के प्रगतिवादी समीक्षक अधिकाधिक सतर्कता के साथ अपने समीक्षा-पैमानों का प्रयोग करते हैं।

हिन्दी में अभी हम बिलकुल दूसरी ही स्थिति पर ठहरे हुए हैं। केवल मतवादी शब्दावली का व्यवहार करते हुए समीक्षाएँ की जा रही हैं, व्यक्तियों को प्रमुखता दी जा रही है, उनकी कृतियों और उनके साहित्यिक सौष्ठव को नहीं। विश्वास करना चाहिए कि इस स्थिति में परिवर्तन होगा और हिन्दी-समीक्षा उस संतुलित स्थिति पर पहुँच सकेगी जिस पर वह पश्चिमी देशों में पहुँच चुकी है। आवश्यकता इस बात की है कि साहित्यिक निर्माण के कार्य में लेखकों और कवियों के जन-संपर्क का आग्रह किया जाय, उनकी उद्भावना-शक्ति का मूल्य परखा जाय। उन्हें किन्हीं आदेशों या फरमानों से आक्रान्त न किया जाय; और साथ ही समीक्षा में वह तटस्थ अनुशीलन आरम्भ किया जाय, जो साहित्यिक परम्परा के सहयोग से, अधिक-से-अधिक लाभप्रद सिद्ध हो सके।

इस समाजवादी समीक्षा-पद्धति से खौफ खाकर हिन्दी में कतिपय ऐसे भी समीक्षक

---

१. **डॉ० रामविलास शर्मा, अमृतराय, प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि ऐसे ही समीक्षक हैं।**

दिखाई देने लगे हैं, जो साहित्य के नितान्त वैयक्तिक उद्भव-स्रोतों का उल्लेख करते हैं, साहित्यिक सृष्टि को दिवा-स्वप्नों का पर्याय मानते हैं, और श्रेष्ठ निर्माण के लिए महती कुण्ठा की अनिवार्यता बताते हैं। रचना के क्षेत्र में भी ऐसे नये लोग आ रहे हैं जो प्रयोगों और प्रतीकों के बाहुल्य से हिन्दी-साहित्य को आप्लावित कर देना चाहते हैं। ऐसी रचनाएँ पहली दृष्टि में बड़ी अनोखी, चमत्कारक और यदा-कदा असाधारण रचना-क्षमता का परिणाम भी प्रतीत होती हैं। पर थोड़ी सी गम्भीरता से विचार करने पर इन रचनाओं का हल्कापन अपने-आप प्रकाश में आ जाता है। ये रचयिता और समीक्षक यह कहते हैं कि साहित्य का सम्बन्ध व्यक्तिगत अनुभूति से है। इनका यह भी आरोप है कि प्रचारार्थ प्रस्तुत की गई समाजवादी रचनाएँ अपने उद्देश्य से आप ही वंचित हो जाती हैं। उनकी पहुँच पाठकों के अंत स्तल तक होती ही नहीं। परन्तु, प्रतिपक्षी पर आरोप करते हुए यह न भूल जाना चाहिए कि निरी वैयक्तिक अनुभूति किसी भी स्थिति में साहित्यिक प्रतिमान नहीं मानी जा सकेगी। साहित्य की मूलवर्ती सामाजिक और सांस्कृतिक सत्ता को किसी प्रकार भुलाया नहीं जा सकेगा। मनोवृत्तियों और अनुभूतियों का ऐसा प्रकाशन, जो सामाजिक संवेदना का विषय न हो, काव्य-प्रतिमान के रूप में गृहीत न होगा। भले ही समाजवादी रचनाएँ अपनी वर्तमान स्थिति में व्यापक संवेदना उत्पन्न न कर रही हों, परन्तु उनसे आशा नहीं छोड़ी जा सकती; और दिवा-स्वप्न वाले साहित्यिक आदर्श को नहीं अपनाया जा सकता।[1]

मनोविश्लेषण की भूमिका पर काम करने वाले कुछ ऐसे समीक्षक अवश्य हैं जो कतिपय साहित्यिक रचनाओं की मूलभूत मनोवैज्ञानिक त्रुटियों और अस्वस्थताओं का उद्घाटन करते हैं। रुग्ण-साहित्य के स्वरूप को प्रदर्शित करने के लिए यदि मनोविश्लेषण की विधि का प्रयोग किया जाता है तो वह अनुचित नहीं। साहित्य की सर्जनात्मक प्रक्रिया पर भी यह सिद्धान्त प्रकाश डालता है। परन्तु इससे अधिक इस सिद्धान्त की उपयोगिता साहित्य-समीक्षा में क्या होगी, यह समझना कठिन है। श्री नरोत्तमप्रसाद नागर के कतिपय लेख इस विषय में नया विचारोत्तेजन करते हैं और हिन्दी के समीक्षकों के सम्मुख यह तथ्य रखते हैं कि इस समीक्षा-विधि का किस सीमा तक उपयोग किया जा सकता है। अभी यह क्षेत्र अधिकाधिक अनुशीलन के लिए रिक्त पड़ा है।

आज हमारे साहित्य में थोड़ा-बहुत गत्यवरोध तो है ही। हिन्दी-आलोचना में भी कुछ अंशों तक लक्ष्यहीनता और दिग्भ्रम के चिह्न दिखाई देते हैं। यदि रचनात्मक और समीक्षात्मक साहित्य एक दूसरे को प्रकाश न देते हों, तो यह एक चिन्तनीय स्थिति होगी। पर यदि वे एक-दूसरे को गुमराह करने अथवा एक-दूसरे की प्रगति में अड़चन डालने का काम करते हों, तब तो यह और भी अनिष्टकारक बात होगी। ऐसा जान पड़ता है कि बौद्धिकता और तर्कवाद की भूल-भुलैया में पड़कर हमारे साहित्यिक स्रष्टा और समीक्षक दोनों ही कुछ भटक गए हैं। यदि यह सच है, तो इस भूल-भुलैयाँ से छुटकारा पाने का सरल और सीधा उपाय क्या है? सीधा और सरल उपाय है पूर्णतः प्रकृतिस्थ हो जाना, नए सिरे से आत्म-शोध करना और उस समस्त बौद्धिक आवरण को दूर कर देना जो हमारे व्यक्तित्व को उलझाता और केवल उलझाता है। कहीं अच्छा

---

१. इस पद्धति के समीक्षकों में श्री अज्ञेय, डॉ० नगेन्द्र, श्री इलाचन्द्र जोशी और श्री नलिन विलोचन शर्मा आदि की गणना की जा सकती है।

हो यदि हम जीवन और काव्य-साहित्य-सम्बन्धी उन मूलभूत तथ्यों को पहचान लें और पहचान-कर आत्मसात् कर लें, जो तथ्य एक साथ ही मानव-व्यक्तित्व के और उसके समस्त कृतित्व के उन्नायक हैं। साहित्य और साहित्यिक समीक्षा भी मानव-कृतित्व का ही एक अंग है। अतएव यदि हमारा व्यक्तित्व हमें आवृत करने वाले वितंडावादों से मुक्त है और यदि उसमें मूलभूत जीवन-विकास के प्रति वास्तविक श्रद्धा और आस्था है तो उससे हमारा साहित्यिक कृतित्व अवश्य उपकृत होगा और हमारी समीक्षा-दृष्टि को भी निश्चय ही नई ज्योति प्राप्त होगी।

●

राजकमल